वार्षिक रु. ६०.०० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ४६ अंक १२ दिसम्बर २००८
रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ. ग.)
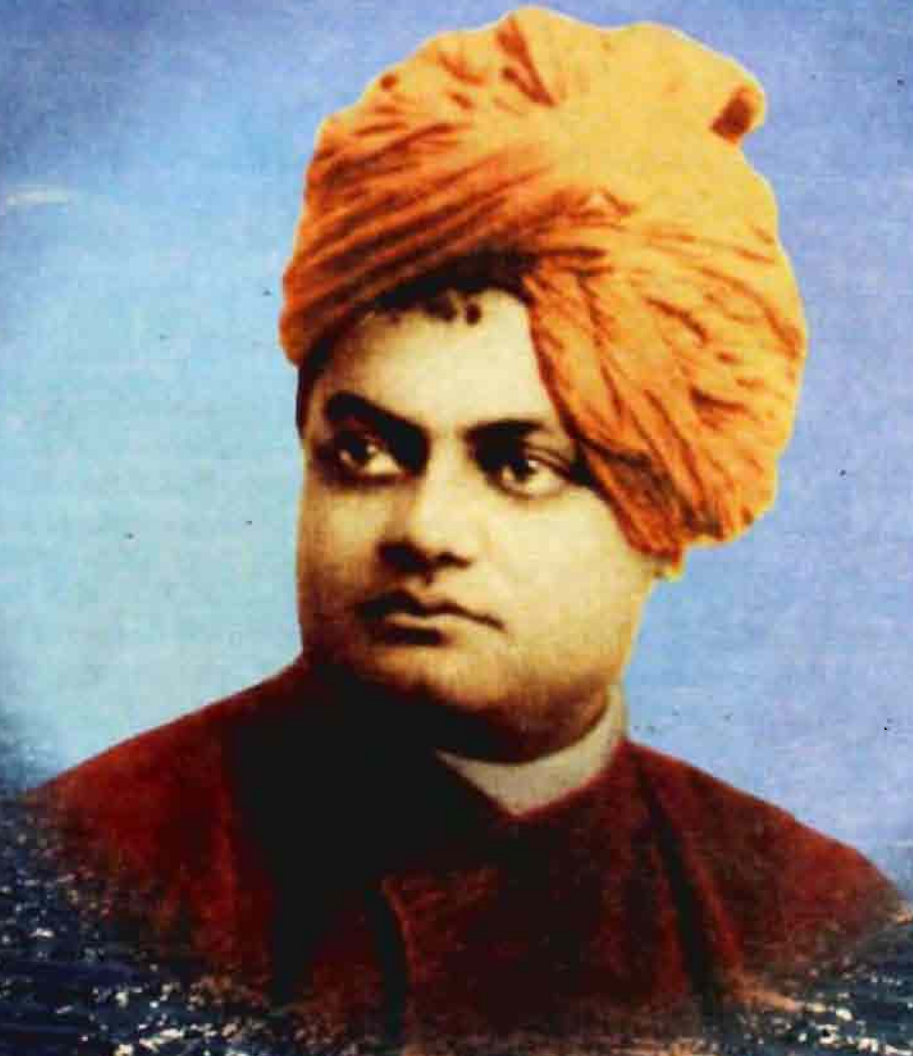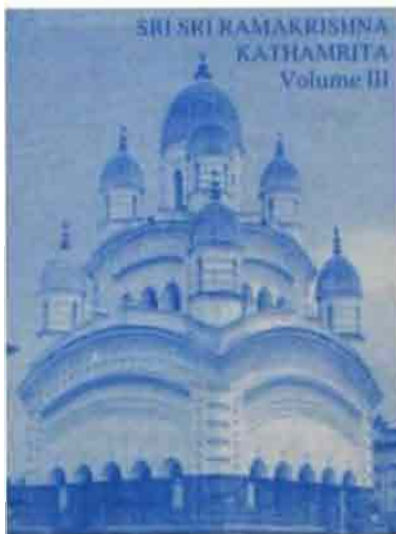
JUST RELEASED

VOLUME III
of
Sri Sri Ramakrishna Kathamrita

in English

A verbatim translation of the third volume of original Bengali edition. Available as hardbound copy at *Rs. 150.00 each* (plus postage Rs. 30.00). Available online at: *www.kathamrita.org*

HINDI SECTION

- **Sri Sri Ramakrishna Kathamrita** — Vol. I to V — Rs. 300 per set (plus postage Rs. 50)

  M. (Mahendra Nath Gupta), a son of the Lord and disciple, elaborated his diaries in five parts of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in Bengali that were first published by Kathamrita Bhawan, Calcutta in the years 1902, 1905, 1908, 1910 and 1932 respectively. This series is a verbatim translation in Hindi of the same.

- **Sri Ma Darshan** — Vol. I to XVI — Rs. 825 per set (plus postage Rs. 115)

  In this series of sixteen volumes Swami Nityatmananda brings the reader in close touch with the life and teachings of the Ramakrishna family: Thakur, the Holy Mother, Swami Vivekananda, M., Swami Shivananda, Swami Abhedananda and others. The series brings forth elucidation of the Upanishads, the Gita, the Bible, the Holy Quran and other scriptures, by M., in accordance with Sri Ramakrishna's line of thought. **This work is a commentary on the Gospel of Sri Ramakrishna by Gospel's author himself.**

ENGLISH SECTION

Title	Volumes	Price
Sri Sri Ramakrishna Kathamrita	Vol. I to III	Rs. 450.00 for all three volumes (plus postage Rs. 60)
M., the Apostle & the Evangelist (English version of Sri Ma Darshan)	Vol. I to X	Rs. 900.00 per set (plus postage Rs. 100)
Sri Sri RK Kathamrita Centenary Memorial		Rs. 100.00 (plus postage Rs. 35)
Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita		Rs. 150.00 (plus postage Rs. 35)
A Short Life of M.		Rs. 50.00 (plus postage Rs. 20)

BENGALI SECTION

- **Sri Ma Darshan** — Vol. I to XVI — Rs. 650 per set (plus postage Rs. 115)

All enquiries and payments should be made to:

SRI MA TRUST
579, Sector 18-B, Chandigarh – 160 018 India
Phone: 91-172-272 44 60
email: SriMaTrust@yahoo.com

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

दिसम्बर २००८

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४६
अंक १२

वार्षिक ६०/- एक प्रति ८/-

५ वर्षों के लिए — रु. २७५/-

संस्थाओं के लिये —

वार्षिक ९०/- ; ५ वर्षों के लिए — रु. ४००/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,२००/-

विदेशों में — वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन — २०० डॉलर
(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष: ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ४६ **दिसम्बर २००८** **अंक १२**

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

श्रद्धाभक्तिध्यानयोगान्मुमुक्षो-
र्मुक्तेर्हेतून्वक्ति साक्षाच्छ्रुतेर्गीः ।
यो वा एतेष्वेव तिष्ठत्यमुष्य
मोक्षोऽविद्याकल्पितादेहबन्धात् ।।४६।।

अन्वय – श्रुतेः गीः श्रद्धा-भक्ति-ध्यानयोगात् मुमुक्षोः मुक्तेः साक्षात् हेतून् वक्ति । यः वै एतेषु एव तिष्ठति अमुष्य अविद्या-कल्पितात् देहबन्धात् मोक्षः (भवति) ।

अर्थ – वेदों की वाणी – श्रद्धा, भक्ति तथा ध्यानयोग – को मुमुक्षु के लिये मुक्ति पाने का साक्षात् कारण बताती है। जो कोई भी इन (तीनों) साधनों में निष्ठापूर्वक लगा रहता है, वह इस अज्ञान द्वारा कल्पित देह-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

अज्ञानयोगात्परमात्मनस्तव
ह्यनात्मबन्धस्तत एव संसृतिः ।
तयोर्विवेकोदितबोधवह्निर-
ज्ञानकार्यं प्रदहेत्समूलम् ।।४७।।

अन्वय – परमात्मनः हि तव अज्ञान-योगात् अनात्म-बन्धः तत एव संसृतिः । तयोः विवेकोदित-बोध-वह्निः समूलम् अज्ञान-कार्यं प्रदहेत् ।

अर्थ – तू वस्तुतः परमात्मा ही है, परन्तु अज्ञान से जुड़ जाने के कारण इस ('मैं'-'मेरा'-रूपी) अनात्मा के बन्धन में पड़ गया है और इसी से तेरा जन्म-मृत्यु-रूपी संसार-चक्र चल रहा है। विवेक-विचार द्वारा उत्पन्न आत्मज्ञान की अग्नि से (अहंकार आदि) सारे अज्ञान-कार्य को जला डाल।

शिष्य उवाच –

कृपया श्रूयतां स्वामिन् प्रश्नोऽयं क्रियते मया ।
यदुत्तरमहं श्रुत्वा कृतार्थः स्यां भवन्मुखात् ।।४८।।

अन्वय – शिष्य उवाच – स्वामिन् ! मया अयं प्रश्नः क्रियते कृपया श्रूयताम्। भवन्-मुखात् यत् उत्तरं श्रुत्वा अहं कृतार्थं स्याम्।

अर्थ – शिष्य ने कहा – हे प्रभो, मैं आपसे यह प्रश्न पूछता हूँ; कृपया इसे सुनिये। आपके मुख से इसका उत्तर सुनकर मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।

को नाम बन्धः कथमेष आगतः
कथं प्रतिष्ठास्य कथं विमोक्षः ।
कोऽसावनात्मा परमः क आत्मा
तयोर्विवेकः कथमेतदुच्यताम् ।।४९।।

अन्वय – एतद् उच्यताम् – बन्धः नाम कः? एष कथम् आगतः? अस्य कथं प्रतिष्ठा? कथं विमोक्षः? असौ अनात्मा कः? कः परमः आत्मा? तयोः विवेकः कथम्?

अर्थ – कृपया बताइये – यह बन्धन क्या है? यह कैसे आया है? यह किस प्रकार स्थित है? इससे मुक्ति का क्या उपाय है? अनात्मा क्या चीज है? और परम आत्मा क्या है? इन दोनों (आत्मा-अनात्मा) के बीच विवेक कैसे हो?

श्रीगुरुरुवाच –

धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि पावितं ते कुलं त्वया ।
यदविद्याबन्धमुक्त्या ब्रह्मीभवितुमिच्छसि ।।५०।।

अन्वय – श्रीगुरुः उवाच – धन्यः असि, कृतकृत्यः असि, त्वया ते कुलं पावितम् यत् अविद्या-बन्ध-मुक्त्या ब्रह्मी-भवितुम् इच्छसि।

अर्थ – गुरु बोले – तू धन्य है, कृतकृत्य है, तेरे कारण तेरा कुल पवित्र हुआ, क्योंकि तू अविद्या के बन्धन से मुक्त होकर (अपने) ब्रह्म-स्वरूप को प्राप्त करने का इच्छुक है।

❖ (क्रमशः) ❖

सारदा-वन्दना

– १ –

(भैरवी–कहरवा)

आदिशक्ति सारदा देवि, आयी करने सबका उद्धार ।
दीन-दुखी आश्रित पुत्रों का, हरने को अशेष दुःख-भार ।।

पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, सारा जग तेरा परिवार,
सब हो जाते तेरे अपने, पाकर सुविमल स्नेह-दुलार,
चाहे चप्पा-चप्पा ढूँढो, सारा ही त्रिलोक संसार,
ऐसी कहाँ किसी ने देखी, कृपामूर्ति करुणा-साकार ।।

ब्रह्मज्ञान मुट्ठी में तेरी, किन्तु नहीं मुझको परवाह;
तेरे चरण-कमल मिल जायें, मिट जायेगी सारी चाह;
अपनी माया से कर डालो, मेरा सत्वर ही उद्धार,
अब 'विदेह' को गोद उठाकर, ले जाओ भवसागर पार ।।

– २ –

(दरबारी–कान्हरा–रूपक)

ज्ञान देने जग में आयी,
सारदे, जगदम्बिके ।।

मोह-तम का नाश करती,
आर्त-जन के त्रास हरती,
कर रही आलोक जग में,
चारु चिन्मय चन्द्रिके ।।

तुम्हीं राधा तुम्हीं सीता,
यह धरा करने पुनीता,
सौम्य-सुन्दर रूप में अब
रामकृष्ण रंजिके ।।

वासना से मुक्त करना,
तेज बल से युक्त करना,
ले चलो माँ, श्रेय-पथ पर,
शक्तिरूपिणि चण्डिके ।।

– *विदेह*

जनशिक्षा का उद्देश्य

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

हमारा लक्ष्य स्वावलम्बन हो

लोगों को यदि आत्मनिर्भर बनने की शिक्षा न दी जाय, तो सारे संसार की दौलत से भी भारत के एक छोटे से गाँव की सहायता नहीं की जा सकती है। नैतिक तथा बौद्धिक – दोनों ही प्रकार की शिक्षा प्रदान करना ही हमारा पहला कार्य होना चाहिये।... ताकि इस शिक्षा के फलस्वरूप लोग आत्मनिर्भर तथा मितव्ययी बन सकें; विवाह की ओर उनका अस्वाभाविक रुझान दूर हो और इस प्रकार वे भविष्य में अकाल के मुख में जाने से अपने को बचा सकें।[२४]

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के दोष

आज की विश्वविद्यालय की शिक्षा में दोष-ही-दोष भरे हैं। यह क्लर्क पैदा करने की मशीन के सिवाय कुछ नहीं है। यदि इतना ही होता, तो भी ठीक था, पर नहीं – इस शिक्षा से लोग किस प्रकार श्रद्धा-विश्वास छोड़ते जा रहे हैं। वे कहते हैं कि गीता तो एक प्रक्षिप्त ग्रन्थ है और वेद ग्राम्य-गीत मात्र हैं। वे भारत के बाहर के देशों तथा विषयों के सम्बन्ध में तो हर बात जानना चाहते हैं, पर यदि उनसे कोई उनके पूर्वजों के नाम पूछे तो चौदह पीढ़ी तो दूर रही, सात पीढ़ी तक भी नहीं बता सकते। ... जिस राष्ट्र का कोई अपना इतिहास नहीं, उसके पास इस संसार में कुछ भी नहीं। जिस व्यक्ति को सदैव इस बात का विश्वास और अभिमान है कि वह उच्च कुल में पैदा हुआ है, क्या वह कभी दुश्चरित्र हो सकेगा? ऐसा क्यों है? उसमें निहित आत्म-विश्वास तथा स्वाभिमान का भाव सदैव उसके विचार और कार्य को इतना नियंत्रित रखता है कि ऐसा व्यक्ति सन्मार्ग से च्युत होने की अपेक्षा हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन कर लेगा। इसी तरह राष्ट्र का गौरवमय अतीत राष्ट्र को नियंत्रण में रखता है और उसका अध:पतन नहीं होने देता। ... यदि एक दृष्टि से देखा जाय, तो तुम्हें वायसराय* का कृतज्ञ होना चाहिये कि उन्होंने विश्वविद्यालयी शिक्षा में सुधार का प्रस्ताव रखा है। इससे उच्च शिक्षा करीब-करीब बन्द ही हो जायेगी और देश को कम-से-कम कुछ साँस लेने और विचार करने का समय तो मिलेगा। वाह! ग्रेजुएट बनने के लिये क्या दौड़धूप, क्या अहमहमिका लगी है और कुछ दिन बाद फिर ठण्डी पड़ जाती है। और आखिर में वे सीखते क्या हैं – बस यही कि हमारा धर्म, आचार-विचार और रीति-रिवाज सब खराब हैं, पाश्चात्यों की सब बातें अच्छी हैं! इस तरह हम महानाश को निमंत्रित कर रहे हैं। आखिर इस उच्च शिक्षा के रहने या न रहने से क्या बनता बिगड़ता है? यह कहीं ज्यादा अच्छा होगा कि यह उच्च शिक्षा प्राप्त कर नौकरी के लिये दफ्तरों की खाक छानने के बजाय लोग थोड़ी-सी यांत्रिक शिक्षा प्राप्त करें, ताकि किसी काम-धन्धे से लगकर अपना पेट तो पाल सकेंगे।[२५]

जो शिक्षा तुम अभी पा रहे हो, उसमें कुछ अच्छा अंश भी है, परन्तु दोष बहुत हैं। इसलिये ये बुराइयाँ उसके भले अंश को दबा देती हैं। पहली बात तो यह कि यह शिक्षा मनुष्य बनानेवाली नहीं कही जा सकती। यह शिक्षा केवल तथा पूर्णत: निषेधात्मक है। निषेधात्मक शिक्षा या निषेध की बुनियाद पर आधारित शिक्षा मृत्यु से भी भयानक है। कोमल मति बालक पाठशाला में भर्ती होता है और उसे सबसे पहली बात यह सिखायी जाती है कि तुम्हारा बाप मूर्ख है। दूसरी बात वह सीखता है कि तुम्हारा दादा पागल है। तीसरी बात यह कि तुम्हारे सारे शिक्षक और आचार्य पाखण्डी हैं। और चौथी बात कि तुम्हारे सारे पवित्र धर्म-ग्रन्थों में झूठी और कपोल-कल्पित बातें भरी हुई हैं! ऐसी निषेधात्मक बातें सीखते हुए बालक जब सोलह वर्ष की आयु का होता है, तब तक वह निषेधों की ढेर बन चुका होता है – उसमें न जान रहती है और न रीढ़। इसका परिणाम जो होना था, वही हुआ। पिछले पचास वर्षों से दी जानेवाली इस शिक्षा ने तीनों प्रान्तों में एक भी स्वतंत्र विचारों का मनुष्य पैदा नहीं किया और जो मौलिक विचार के लोग हैं उन्होंने यहाँ नहीं, विदेशों में शिक्षा पायी है या फिर अपने भ्रमपूर्ण अन्धविश्वासों को दूर करने हेतु पुन: अपने पुराने शिक्षालयों में जाकर अध्ययन किया है।[२६]

शिक्षा जनता की दुर्दशा को दूर कर सकती है

शिक्षा! शिक्षा! केवल शिक्षा! यूरोप के अनेक नगरों में

* भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन ने विश्वविद्यालयी शिक्षा के स्तर को ऊँचा करने के उद्देश्य से उसे इतना महँगा बना देना चाहा था कि वह मध्य-वर्ग के लड़कों की पहुँच के लगभग बाहर हो जाती।

घूमकर और वहाँ के गरीबों के भी अमन-चैन और शिक्षा को देखकर अपने गरीब देशवासियों की याद आती थी और मैं आँसू बहाता था। यह अन्तर क्यों हुआ? उत्तर मिला – शिक्षा से। शिक्षा से आत्म-विश्वास आया और आत्म-विश्वास से उनका अन्तर्निहित ब्रह्मभाव जाग उठा; जबकि हमारा ब्रह्मभाव क्रमशः निद्रित – संकुचित होता जा रहा है।[२७]

शिक्षा का विस्तार तथा ज्ञान का उन्मेष हुये बिना देश की उन्नति कैसे होगी?... परन्तु स्मरण रहे कि आम जनता और महिलाओं में शिक्षा का प्रसार हुये बिना उन्नति का अन्य कोई उपाय नहीं।... पुराण, इतिहास, गृहकार्य, शिल्प-कला, गृहस्थी के नियम आदि आधुनिक विज्ञान की सहायता से सिखाने होंगे और आदर्श चरित्र गठन करने के लिये उपयुक्त आचरण की भी शिक्षा देनी होगी।... जिनकी मातायें शिक्षित और नीतिपरायण हैं, उन्हीं घरों में बड़े लोग जन्म लेते हैं।[२८]

जन-साधारण की शिक्षा

जनता को शिक्षित और उन्नत कीजिये। इसी तरह एक राष्ट्र का निर्माण होता है।... सारा दोष यहाँ है : यथार्थ राष्ट्र जो कि झोपड़ियों में बसता है, अपना मनुष्यत्व भूल चुका है, अपना व्यक्तित्व खो चुका है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई – हर एक के पैरों-तले कुचले गये ये लोग समझते हैं कि जिसके पास भी पर्याप्त धन है, उसी के पैरों-तले कुचले जाने के लिये उनका जन्म हुआ है। उन्हें उनका खोया हुआ व्यक्तित्व लौटाना होगा। उन्हें शिक्षित करना होगा।... हमारा कर्तव्य केवल रासायनिक पदार्थों को एकत्र भर कर देना है, इसके बाद ईश्वरीय विधान से वे स्वयं ही रवे में परिणत हो जायेंगे। हमें केवल उनके मस्तिष्क को विचारों से भर देना है, बाकी सब कुछ वे स्वयं ही कर लेंगे। इसका अर्थ हुआ – आम जनता को शिक्षित करना। इसी में कठिनाइयाँ हैं। एक दिवालिया सरकार कभी कुछ नहीं कर सकती है, न करेगी; अतः उस दिशा से किसी सहायता की आशा नहीं है।

अब मान लो कि हम प्रत्येक गाँव में निःशुल्क पाठशाला खोलने में समर्थ हैं, तो भी गरीब लड़के स्कूलों में आने की अपेक्षा अपने जीविकोपार्जन हेतु हल चलाने जायेंगे। न तो हमारे पास (शिक्षा देने हेतु) धन है और न हम उनको शिक्षा के लिये बुला ही सकते हैं। समस्या निराशाजनक प्रतीत होती है। मैंने एक रास्ता ढूँढ निकाला है। वह यह है कि यदि पहाड़ मुहम्मद के पास नहीं आता, तो मुहम्मद को ही पहाड़ के पास जाना होगा। यदि गरीब शिक्षा लेने नहीं आ सकते, तो शिक्षा को ही उनके पास – खेत में, कारखाने में और हर जगह पहुँचना होगा। यह कैसे? आपने मेरे गुरुभाइयों को देखा है। मुझे सारे भारत से ऐसे निःस्वार्थ, अच्छे एवं शिक्षित सैकड़ों नवयुवक मिल सकते हैं। ये लोग गाँव-गाँव जाकर हर द्वार पर केवल धर्म ही नहीं, शिक्षा भी पहुँचायेंगे। इसलिये मैं भारत की नारियों के लिये शिक्षिकाओं के रूप में विधवाओं की भी एक छोटी-सी टोली संगठित कर रहा हूँ।

अब मान लो कि ग्रामीण लोग अपना दिन भर का काम समाप्त करके अपने गाँव में लौट आये हैं और किसी पेड़ के नीचे या कहीं और बैठकर, हुक्का पीते हुए गप लड़ाते समय बिता रहे हैं। मान लो, दो शिक्षित संन्यासी वहाँ पहुँच जायें और प्रोजेक्टर की सहायता से उन्हें ग्रह-नक्षत्रों या भिन्न-भिन्न देशों के या ऐतिहासिक दृश्यों के चित्र दिखाने लगें। इस प्रकार ग्लोब, नक्शे आदि के द्वारा जबानी ही कितना काम हो सकता है?... केवल आँख ही ज्ञान का एकमात्र द्वार नहीं है, कान से भी यह काम हो सकता है। इस प्रकार नये-नये विचारों तथा नीतियों से उनका परिचय होगा और वे एक बेहतर जीवन की आशा करने लगेंगे। हमारा काम यहीं समाप्त हो जाता है। बाकी सब उन्हीं पर छोड़ देना होगा।[२९]

हमारे देश में हजारों निष्ठावान और त्यागी साधु हैं, जो गाँव-गाँव धर्म की शिक्षा देते फिरते हैं। यदि उनमें से कुछ को सांसारिक विषयों के शिक्षकों के रूप में भी संगठित किया जा सके; तो गाँव-गाँव और द्वार-द्वार पर जाकर वे केवल धर्मशिक्षा ही नहीं, बल्कि भौतिक शिक्षा भी देंगे। मान लो, इनमें से दो लोग शाम को अपने साथ एक प्रोजेक्टर, एक ग्लोब और कुछ नक्शे आदि लेकर किसी गाँव में जाते हैं। वहाँ वे अपढ़ लोगों को गणित, ज्योतिष और भूगोल की बहुत कुछ शिक्षा दे सकते हैं। वे गरीब पुस्तकों से जीवन भर में जितनी जानकारी न पा सकेंगे, उससे सौगुनी अधिक जानकारी वे उन्हें बातचीत के माध्यम से विभिन्न देशों के बारे में कहाँनियाँ सुनाकर दे सकते हैं।[३०]

यदि स्वभाव में समता न भी हो, तो भी सबको समान सुविधा मिलनी चाहिये। फिर भी यदि किसी को अधिक तथा किसी को कम सुविधा देनी हो, तो बलवान की अपेक्षा दुर्बल को अधिक सुविधा देनी होगी। अर्थात् शूद्र को शिक्षा की जितनी जरूरत है, उतनी ब्राह्मण को नहीं। यदि किसी ब्राह्मण के पुत्र के लिये एक शिक्षक जरूरत हो, तो शूद्र के लड़के के लिये दस शिक्षक चाहिये। कारण यह है कि जिसकी बुद्धि की स्वाभाविक प्रखरता प्रकृति के द्वारा नहीं हुई है, उसकी बाहर से अधिक सहायता करनी होगी।[३१]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

२४. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड ५, पृ. ८; **२५**. वही, खण्ड ५, पृ. २०८; **२६**. वही, खण्ड ५, पृ. ६-७; **२७**. वही, खण्ड ५, पृ. ५३-५४; **२८**. वही, खण्ड ५, पृ. ८४; **२९**. वही, खण्ड ५, पृ. १६६; **३०**. वही, खण्ड ४, पृ. ३३५; **३१**. वही, खण्ड ५, पृ. ४४;

श्री हनुमत्-चरित्र (८/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. के अप्रैल-मई में रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के तत्त्वावधान में पण्डितजी के जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने।

शरीर के नाते हम पुत्र के लिये, परिवार के लिये कर्तव्य-कर्म करते हैं। यह बड़ी अच्छी बात है, पर समस्या यह है कि जब हम देह को केन्द्र मानकर विचार करते हैं, तो हमारे मन में उतना ही विरोध भी उत्पन्न होता है। लोग चाहते हैं कि जो हमारी देह से उत्पन्न हुआ है, उसे तो सुख मिलना चाहिये और जो दूसरे की देह से पैदा हुआ है, उसे कष्ट भी मिले तो कोई बात नहीं। यह देह-केन्द्र एक सीमा तक व्यक्ति को कुछ करने की प्रेरणा देता है, पर बाद में वह व्यक्ति को अपनी संकीर्ण सीमा में घेरकर इतना स्वार्थी बना देता है, अपने-पराये का घोर भेद पैदा कर देता है। समाज की सारी टकराहट का मूल यह 'मेरा'-'तेरा' ही है। लक्ष्मणजी ने भगवान से पूछा – माया क्या है? वे बोले – 'मैं-मेरा', और 'तू-तेरा' का भाव जब तक बना हुआ है, तभी तक वह माया है और यह माया का बन्धन व्यक्ति को बाँधे हुये है –

मैं अरु मोर तोर तैं माया।
जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया।। ३/१५/२

किसी के पूछने पर सन्त कबीरदासजी ने भी कहा –

मैं अरु तू की जेवरी बँधेउ सकल संसार।
दास कबीरा क्यों बँधे जाके राम अधार।।

जिनके श्रीराम ही आराध्य हैं, जीवन हैं, ऐसे कबीरदास भला कैसे बँधें? या तो देह को केन्द्र बनाकर विचार कीजिये, या आत्मा को केन्द्र बनाकर। इन दोनों में से यदि आप देह को केन्द्र बनाकर विचार करेंगे, तो कुछ हद तक धर्म तथा कर्तव्य का पालन तो होगा, पर उसके बाद वह अपने आप ही द्वेष में परिणत होगा – 'तू' और 'मैं' में परिणत होगा।

साधारण दृष्टि से विचार करें, तो माता-पिता-परिवार के प्रति कर्तव्य हैं। इस कर्तव्य को निभाना धर्म है। रामायण में इस कर्तव्य की भी शिक्षा दी गई, पर दूसरी ओर हनुमानजी बाल ब्रह्मचारी हैं। उन्होंने विवाह नहीं किया। इसीलिये कहा गया कि हनुमानजी का छलाँग का मार्ग है। क्रम यह है, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। हनुमानजी ने माता-पिता के लिये कर्तव्य का पालन किया या नहीं?

शास्त्रों में जो पुत्र शब्द की व्याख्या है। **पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः, तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः** – वह पिता की 'पुत्' नामक नरक से रक्षा करता है, इसीलिये पुत्र कहलाता है। इसीलिये व्यक्ति व्यग्र रहता है कि पुत्र मिले। अनेक नरकों में एक 'पुत्' नाम का भी एक नरक है और कहते हैं कि यदि पुत्र हो जायेगा, तो व्यक्ति उस नरक से बच जायेगा। परन्तु जब वह इसी जनम को नरक बना देता है, तो कभी-कभी ऐसा लगता है कि 'पुत्' नाम के नरक से तो पता नहीं कब रक्षा होगी, परन्तु उसके लिये यही जीवन नरक बना जा रहा है। वह 'पुत्' ही तो कोई एकमात्र नरक नहीं है, इसके सिवा और भी न जाने कितने नरक हैं।

यह पुत्र के द्वारा 'पुत्' नामक नरक से रक्षा की बात एक हद तक ठीक है। परन्तु पुत्र भी कई प्रकार के होते हैं। कबीर ने बड़ा कटाक्ष कर दिया। किसी व्यक्ति ने पिता की मृत्यु के बाद बड़े धूम-धाम से उनका मृतक-कर्म किया और उनकी अस्थि लेकर गंगा में प्रवाहित करने जा रहे थे। कबीर को उसके बारे में ज्ञात था। लोगों ने कहा – ये तो पिता के बड़े भक्त हैं, अस्थियों को गंगा में बहाने ले जा रहे हैं। कबीर ने हँसकर कहा – हाँ, हाँ, इससे बढ़कर पितृभक्ति क्या होगी कि जीवन भर बाप के साथ दंगा करते रहे और मरने के बाद उनकी अस्थियों को गंगा में ले जा रहे हैं –

जियत बाप सो दंगम दंगा।
मरे, हाड़ पहुँचावे गंगा।।

अभिप्राय यह कि धर्म ही सब कुछ नहीं है। एक सीमा के बाद धर्म से भी आगे जाने की जरूरत है। यह समस्या विभीषण के सामने भी थी – रावण बड़ा भाई है, उसे कैसे छोड़ दें? एक सूत्र आता है। हनुमानजी जब लंका गये, तो उन्होंने विभीषण को क्या कहकर पुकारा? – "भाई विभीषण।" उन्होंने एक नई दृष्टि दी। उनका न लंका में जन्म हुआ, न विभीषण के माँ के गर्भ से जन्म हुआ और न कोई उनकी जाति में जन्म हुआ, तो फिर भाई कैसे हो गये?

हनुमानजी ने सूत्र दिया – यदि तुम स्वयं को शरीर मानते हो, तो रावण तुम्हारा भाई है। मगर जहाँ तक मैं जानता हूँ, भाई तो हम दोनों ही हैं। – क्यों? बोले – तुम्हारी माँ भी सीता हैं, मेरी माँ भी सीता हैं, इसलिये हम भाई हैं –

देखी चहउँ जानकी माता।। ५/८/४

यह बन्धुत्व का नाता है। परमहंस देव के साथ शक्तिरूपा जो माँ-सारदा हैं, उनका मातृत्व पाकर असंख्य व्यक्तियों ने

अपना सर्वस्व छोड़ दिया। ब्रह्मचर्य-संन्यास का व्रत स्वीकार कर लिया। यह सम्बन्ध, माँ से प्राप्त होनेवाला यह मातृत्व व्यक्ति को और भी अधिक त्याग की प्रेरणा देता है, विस्तार की प्रेरणा देता है और यह संकेत देता है कि देह को स्वीकार कीजिये, पर देह को ऐसा घेरा मत बना लीजिये कि उसको पार ही न कर सके। वस्तुत: देह-भाव को पार करना बड़ा कठिन है। रामायण में हम देखते हैं – विदेह-भाव, महाराज जनक विदेह हैं, श्रीसीता वैदेही हैं। सर्वत्र यही संकेत आता है। भरतजी द्वारा विदेह-भाव की सृष्टि होती है – उनकी वह दशा देखकर सबको अपने देह की सुध भूल गयी –

सो दसा देखत समय तेहि
बिसरी सबहि सुधि देह की ।। २/१७६

इसका अभिप्राय यह है कि जब हम उपासना करते हैं, भाव में सम्बन्ध की स्थापना करत हैं, तो हमें शरीर से ऊपर उठकर ही उस भाव सम्बन्ध की अनुभूति होती है। परमहंसदेव की जीवनी में भी आप पढ़ेंगे और सारे ग्रन्थों में सर्वत्र पायेंगे – भाव ही सम्बन्ध का केन्द्र है। और भाव की स्थिति तो तभी होगी, जब व्यक्ति देह से ऊपर उठ जाय। तो यह जो देह-समुद्र है, यही मानो देह-भाव है। इस देह-भाव को केवल पार ही नहीं कर लेना है, लंका में जाना है, जहाँ का दर्शन क्या है? समृद्ध राष्ट्रों का दर्शन क्या है? – देह-भाव।

एक बड़े प्रसिद्ध वैद्य अमेरिका गये। उनकी कन्या वहीं थी। वे लौटे, तो मुझसे कहने लगे – देखिये, आप लोग तो कथा में रामराज्य की बात कहते हैं, पर रामराज्य तो अमेरिका में है। मैंने कहा – वैद्यजी, आप उस रामराज्य में ही रहते, उसे छोड़कर आप इस नरक-राज्य में क्यों आ गये? कई लोग यह मान लेते है कि जहाँ भोग तथा समृद्धि हो, वही रामराज्य है। परन्तु रामराज्य का अर्थ यह नहीं है। स्वास्थ्य भी होना चाहिये, समृद्धि भी होनी चाहिये, सौन्दर्य भी होना चाहिये। पर वह सौन्दर्य विदेह-भाव का हो।

माँ-सारदा मातृ-भाव की प्रतिरूप हैं। उनके अनेक संस्मरण हैं। वे असंख्य पुत्रों की माँ बनती हैं, पर जिसने एक पुत्र के लिये मातृत्व को स्वीकार कर लिया, उसने तो अपने को घेरे में ही डाल लिया है। हनुमानजी की यात्रा पर आप गहराई से विचार करके देखें। विवेकानन्द महाराज की जीवनी में भी आता है कि वे भी यात्रा पर चले। इसका क्या अभिप्राय है? एक दर्शन है – शरीर का दर्शन, भोग का दर्शन, समृद्धि का दर्शन और लंका उसी का प्रतीक है। आज की दृष्टि से उसे अमेरिका कह लीजिये। ऐसा नहीं कि उसकी आवश्यकता नहीं है। अयोध्या में भी तो समृद्धि है, अयोध्या में भी तो सौन्दर्य है, अयोध्या में भी स्वास्थ्य है, पर भेद केवल यह है कि देहवाद तथा भोगवाद ही लंका का जीवन-दर्शन है।

एक बड़ा कठोर प्रसंग आता है। भगवान श्रीरामकृष्ण को प्राय: भाव-समाधि लग जाती थी। स्वामी विवेकानन्दजी एक बड़े परीक्षक थे, जाँचकर देखना चाहते थे। कहते हैं कि भगवान श्रीरामकृष्ण जब समाधि में निमग्न थे, तो स्वामीजी के मन में आया कि जरा इनके शरीर से आग छुआ करके देखें कि इनको कुछ लगता है या नहीं? श्रीरामकृष्ण को उस आग के स्पर्श का रंचमात्र भी अनुभव नहीं हुआ। स्वामीजी ने समझ लिया कि देह-भावना से कैसे ऊपर उठे?

हनुमानजी देह में रहते हुये भी इस देह-समुद्र को ऊपर से पार कर लेते हैं। वे देहभाव से ऊपर उठे हुए हैं। अंगद भी देहभाव से ऊपर उठने के लिये तैयार थे, पर वे बोले – चला तो जाऊँगा, पर शंका है कि लौट पाऊँगा या नहीं –

अंगद कहइ जाउँ मैं पारा ।
जियँ संसय कछु फिरती बारा ।। ४/३०

अंगद जानते थे कि बहुत लोग एक बार तो देह-भाव से ऊपर उठ जाते हैं, कई लोग तो देह भाव से ऊपर उठ नहीं पाते। कथा में आप बैठे हैं पर नींद आ रही है तो समझ लीजिये कि देह के समुद्र में डूब गये। पर मान लीजिए आप चार-छह घण्टे देह-भाव से ऊपर भी उठ जाय, पर वह कितनी देर टिका रहेगा। अंगद कहते हैं – "मुझे विश्वास नहीं है, लंका में इतने आकर्षण है, इतना सौन्दर्य है, इतना स्वर्ण है, मैं कैसे दावा करूँ कि जाकर वहाँ से अछूता लौट सकूँगा। उसका आकर्षण इतना बड़ा होता है।"

पर हनुमानजी लंका की यात्रा करते हैं और लंका को जलाते हैं। स्वामीजी ने भी उसी प्रकार आध्यात्मिक विचारों को अमेरिका-वासियों के सामने प्रस्तुत करते हुए जो विजय प्राप्त की, वह देह के सन्दर्भ की दृष्टि से विजय नहीं है। उसका अभिप्राय है कि विदेह-भाव में उन्हें जो एक महान् आदर्श मिला था, उसी में वे स्वयं स्थित रहे। अमेरिका में उनके सामने अनेक प्रकार के आकर्षण थे, सभी प्रकार के प्रलोभन थे और जब वे अपने को सभी प्रकार के आकर्षणों से मुक्त कर सके, तो देह-भाव से ऊपर उठ करके ही उनके द्वारा यह महान् कार्य सम्पन्न हुआ।

हनुमानजी की यात्रा भी इसी क्रम से है। इसके लिए बड़े लम्बे समय की अपेक्षा है, समय की सीमा तेजी से बढ़ती जा रही है। पर हनुमानजी देहभाव से ऊपर उठे हुए हैं, देह-भाव से ऊपर उठकर जा सकते हैं। पर इतने से ही विघ्न समाप्त नहीं हो गया। सोने का पर्वत आ गया। यह कंचन का आकर्षण, स्वर्ण का आकर्षण व्यक्ति को रोक देता है। हनुमानजी उससे भी ऊपर उठ जाते हैं। उसे दूर से ही प्रणाम करते हैं और आगे बढ़ जाते हैं। इसके बाद सुरसा आ जाती है। वह कहती है – मैं तुम्हें खाऊँगी। यह सुरसा कौन है? इसी को लोकैषणा कहते हैं। त्यागी लोगों में कभी-कभी लोकैषणा की वृत्ति बड़ी प्रबल हो जाती है। धन छोड़ दिया,

परिवार छोड़ दिया, परन्तु यह इच्छा हो जाती है कि लोग कहें कि ये इतने बड़े त्यागी हैं। यह कहलाने की इच्छा जो है, इसका छूटना तो बड़ा कठिन है। यही लोकैषणा है। कीर्ति के लिये व्यक्ति सब कुछ छोड़ देता है –

कंचन तजना सहज है, सहज त्रिया का नेह ।
मान बड़ाई ईरषा, दुरलभ तजना एह ।।

व्यक्ति जब त्याग करता है, तो सुरसा-रूपी लोकैषणा सामने आ जाती है। और वह तो बड़ा विस्तृत प्रसंग है।

हनुमानजी कहते हैं – "अभी मत खाओ। पहले मैं माँ के पास जाऊँ, प्रभु का सन्देश उन्हें सुना दूँ, माँ का सन्देश प्रभु को सुना दूँ, तब मैं तुम्हारे मुँह में पैठ जाऊँगा।"

बड़ी सुन्दर बात है। साधक अगर लोकैषणा के फेर में पड़े, तब तो सुरसा खा ही जायेगी। रोज न जाने कितने लोगों को खा रही है। अखबार में हमारा नाम छप जाय, हमारा चित्र छप जाय, हमारे बारे में चर्चा छप जाय, इसका कितना बड़ा प्रलोभन होता है। परन्तु हनुमानजी कहते हैं कि जब जीवन में पूर्णता प्राप्त हो जायेगी, तो फिर कोई चिन्ता नहीं, मैं स्वयं तुम्हारे मुँह में पैठ जाऊँगा। लेकिन सुरसा कहती है – "जब तुम इतने बड़े बन जाओगे, तो मेरे मुँह में कहाँ समाओगे? हम तो तुम्हें अभी खायेंगे।"

तब दो सूत्र आते हैं। पहले सुरसा मुँह फैलाती गई और हनुमानजी बढ़ते गये। इसका अभिप्राय है कि लोकेषणा तो तब खाती है, जब लोकैषणा बड़ी हो और व्यक्ति छोटा हो। परन्तु यदि व्यक्ति स्वयं ही बड़ा हो तो ! एक करोड़पति क्या इसके लिये बेचैन होगा कि समाचार-पत्रों में छपे कि इनके पास हजारों रुपये हैं ! इसलिये नहीं होगा कि वह उससे बड़ा है, उसकी विशेषता बड़ी है। हनुमानजी क्रमशः बड़े होते गये। सुरसा ने जब सौ योजन का मुँह फैलाया, तो वह कल्पना कर रही थी कि हनुमानजी दो सौ योजन के बनेंगे। पर आश्चर्य? जब सुरसा ढूँढ़ने लगी कि यह बन्दर कहाँ गया, तो हनुमानजी उसके मुँह में पैठ गये और निकल भी आये –

जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा ।
तासु दून कपि रूप देखावा ।।
सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा ।
अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा ।।
बदन पइठि पुनि बाहेर आवा ।। ५/२/९-१०

सूत्र यह है कि या तो बहुत बड़े बन जाइये और या बहुत छोटे। केवल लघु नहीं, बल्कि 'अति लघु'। लघु और अति लघु में क्या अन्तर है? जैसे पूछा जाय कि अंकों में सबसे छोटा अंक क्या है? तो कहेंगे – 'एक', पर एक से भी छोटा एक अन्य अंक है। एक उससे भी छोटा अंक कौन-सा है? – 'शून्य'। एक का तो भी कोई मूल्य है, पर शून्य अर्थात् कुछ नहीं – अति लघु। हनुमानजी 'अति लघु' अर्थात् शून्य बन गये। लोकैषणा से वही बच सकता है, जो उससे बड़ा हो, या फिर अपने को वैसा शून्य बना दे। बस, दिखलाई देने का ही तो सारा झगड़ा है।

भगवान रामकृष्ण की जीवनी में नाग महाशय का प्रसंग आता है, जो परमहंसदेव के बड़े अनन्य भक्त थे। श्रीरामकृष्ण के भक्तों में एक ओर तो थे श्री विवेकानन्दजी महाराज और दूसरी ओर नाग महाशय। नाग महाशय विनम्रता की पराकाष्ठा थे। किसी प्रसंग में कहा गया कि माया जब बाँधने आई, तो स्वामी विवेकानन्द इतने बड़े हो गये कि वह बाँध नहीं पाई और नाग महाशय इतने छोटे बन गये कि वे माया-जाल के छिद्र से बाहर आ गये। इसलिये या तो आप स्वयं को अभिमान-शून्य बना लीजिये और नहीं तो फिर 'शिवोऽहम्' का, भगवान से अभिन्नता का बड़ा अभिमान बना लीजिये।

स्वामी विवेकानन्दजी के जीवन में आता है कि अनेक विघ्न-बाधाओं को पार करते हुये अन्त में मातृकृपा से समुद्र-यात्रा करते हैं। माँ के आशीर्वाद के बिना वे समुद्र-पार – अमेरिका कैसे जायें? स्वामीजी मद्रास में थे और माँ उस समय सम्भवतः कलकत्ते में थीं। अन्त में वे पत्र द्वारा माँ का आशीर्वाद पाकर अपनी यात्रा आरम्भ करते हैं।

हनुमानजी की एक ही रट है – "माँ, माँ, माँ" – पर माँ है कि 'पुत्र' कहती ही नहीं। हनुमानजी बड़े व्याकुल हो गये। उनकी यह यात्रा बड़े बनने की नहीं, छोटे बनने की यात्रा है। साधना के बाद कृपा पाने की यात्रा है। माँ कह रही हैं – तुम बड़े अच्छे सेवक हो, पर हनुमानजी को सन्तोष नहीं है। पर सहसा हनुमानजी ने एक ऐसी बात कही कि माँ के मुँह से 'पुत्र' शब्द निकला। हनुमानजी भक्तिदेवी के सामने हैं, तो बिल्कुल नन्हे से हैं। लघु बनकर ही तो भक्ति पाई जा सकती है। हनुमानजी बोले – माँ, घबराओ मत, प्रभु तुम्हें छुड़ाने के लिये आयेंगे और उनके साथ हम लोग भी तो आयेंगे। ज्योंही कहा कि हम लोग आयेंगे, तो माँ ने आश्चर्य से देखा – यह नन्हा-सा बन्दर और कहता है कि हम आपको छुड़ाने के लिये आयेंगे, तो उनके मुँह से सहसा यह शब्द निकल गया – पुत्र, सारे बन्दर क्या तुम्हारे जितने ही बड़े हैं –

हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना ।। ५/१६/६

ऐसी नासमझी की बात तो बच्चे ही कहा करते हैं। तुम बड़े नासमझ लग रहे हो। हनुमानजी प्रसन्न हो गये, बोले – **समझदारी से सम्मान मिलता है, पर प्यार तो नासमझी से ही मिलता है।** इस संसार में कुछ अदभुत् रीति दिखाई देती है। यदि आप व्याकरण-सम्मत शुद्ध 'अम्ब' शब्द का उच्चारण करें, तो परीक्षा में पास होंगे और यदि नन्हा-सा बच्चा अशुद्ध शब्द, अशुद्ध उच्चारण में 'माँ' को पुकारे तो भले ही उसे परीक्षा में उत्तीर्ण होने का प्रमाण-पत्र न मिले, पर माँ तो मिल ही जाती है। माँ को वह पा लेता है। हनुमानजी को यही

लगा – अब पता चला कि ज्ञान-विज्ञान की जरूरत नहीं है, ऊँचाई की जरूरत नहीं।

स्वामी विवेकानन्दजी के जीवन में भी एक ऐसा क्षण आता है और वह क्षण बड़ा सांकेतिक है। अमेरिका-प्रवास के दौरान उन्हें महान् कष्ट हुआ, वह वहाँ की नारियों के द्वारा उन्हें बड़ी सहायता प्राप्त हुई। हनुमानजी भी जब इस यात्रा से लौटकर आये और भगवान ने उनसे पूछा – हनुमान, तुमने लंका में क्या-क्या किया?

तो हनुमानजी बोले – प्रभो, लंका की पाठशाला में तो मैं बहुत कुछ सीख करके आया।

– क्या क्या सीखा?

विवेकानन्दजी महाराज की जीवनी में भी आता है। वे तो बड़े तेजस्वी थे। कश्मीर में क्षीरभवानी का टूटा हुआ मन्दिर देख करके उनको लगा कि अगर मैं होता तो यह मन्दिर न टूटने देता। और तब उन्हें एक आकाशवाणी सुनाई पड़ी – ''तो क्या तू मानता है कि मैं अपने को बचा नहीं पाई और तू मुझे बचा लेता।'' इसका अर्थ यह नहीं था कि कर्म न किया जाय, यह नहीं कि मान लें कि भगवान की शक्ति ही सब करती है और हमें कुछ नहीं करना है, पर सब कुछ करने के बाद भी, एक स्थिति ऐसी आती है, जो उनके जीवन में आई। उनका कितना महान् पुरुषार्थ था, उन्होंने इतना ज्ञान-विज्ञान का प्रसार किया, पर क्षीरभवानी मन्दिर में जो स्वर उन्होंने सुना, वह मानो वही स्वर है जो हनुमानजी ने कहा था – प्रभो, यदि मैं लंका न जाता, तो मेरे जीवन में बड़ी कमी रह जाती। – क्या? बोले – विभीषण का घर जब मैंने देखा तो मुझे लगने लगा – लंका में भला सन्त कहाँ मिलेंगे –

लंका निसिचर निकर निवासा।
इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा ।। ५/६/१

''प्रभो, मैं तो समझता था कि सन्त तो भारत में ही होते हैं। लेकिन जब मैं लंका में सीताजी को नहीं ढूँढ़ सका और विभीषण से भेंट होने पर उन्होंने उपाय बता दिया, तो मैंने सोचा कि अरे, जिन्हें मैं प्रयत्न करके नहीं ढूँढ़ सका, उन्हें तो इन लंकावाले सन्त ने ही बता दिया। शायद प्रभु ने यही दिखाने के लिये भेजा था कि इस दृश्य को भी देख लो। और प्रभो, वाटिका में जिस समय रावण आया। रावण जब क्रोध में आकर तलवार लेकर माँ को मारने के लिये दौड़ा, तब मुझे लगा कि अब कूदकर इसकी तलवार छीन मैं उसका सिर काट लूँ, किन्तु अगले ही क्षण मैंने देखा कि मन्दोदरी ने रावण का हाथ पकड़ लिया। यह देखकर मैं गद्‌गद हो गया। ओह, प्रभो, आपने कैसी शिक्षा दी! यदि मैं कूद पड़ता, तो मुझे भ्रम हो जाता कि यदि मैं न होता तो क्या होता? बहुधा व्यक्ति को ऐसा भ्रम हो जाता है। मुझे लगता कि मैं न होता, तो सीताजी को कौन बचाता? पर आप कितने बड़े कौतुकी है? आपने उन्हें बचाया ही नहीं, बल्कि बचाने का काम रावण की उस पत्नी को ही सौंप दिया, जिसको प्रसन्नता होनी चाहिये कि सीता मरे, तो मेरा भय दूर हो। तो मैं समझ गया कि **आप जिससे जो कार्य लेना चाहते हैं, वह उसी से लेते है।** किसी का कोई महत्त्व नहीं है। आगे चलकर जब त्रिजटा ने कहा कि लंका में बन्दर आया हुआ है, तो मैं समझ गया कि यहाँ तो बड़े सन्त हैं। मैं आया और यहाँ के सन्त ने देख लिया। पर जब उसने कहा कि वह बन्दर लंका जलायेगा, तो मैं बड़ी चिन्ता में पड़ गया कि प्रभु ने तो लंका जलाने कि लिये कहा नहीं और वह त्रिजटा कह रही है, तो मैं क्या करूँ? पर प्रभु, बाद में तो मुझे सब अनुभव हो गया।'' – क्या?

बोले – रावण की सभा में इसलिये बँधकर गया कि करके तो मैंने देख लिया, अब जरा बँधके देखूँ कि क्या होता है। जब रावण के सैनिक तलवार लेकर मुझे मारने के लिये चले तो मैंने अपने को बचाने की चेष्टा नहीं की, पर जब विभीषण ने आकर कहा – दूत को मारना अनीति है –

नीति बिरोध न मारिअ दूता ।। ५/२४/७

तो मैं समझ गया कि देखो, मुझे बचाना है, तो प्रभु ने यह उपाय कह दिया। सीताजी को बचाना है, तो रावण की पत्नी मन्दोदरी को लगा दिया। मुझे बचाना था, तो रावण के भाई को भेज दिया। पर प्रभो, आश्चर्य की पराकाष्ठा तो तब हुई कि जब रावण ने कहा कि बन्दर को मारा तो नहीं जायेगा, पर पूँछ में कपड़ा तेल लपेट कर घी डालकर आग लगाई जाय, तो मैं गद्‌गद हो गया कि उस लंकावाली सन्त की ही बात सच थी। लंका जलाने के लिये मैं कहाँ से घी, तेल, कपड़ा लाता, कहाँ आग ढूँढ़ता! वह प्रबन्ध भी आपने रावण से करा लिया। तो जब आप रावण से भी अपना काम करा लेते हैं, तो मुझसे करा लेने में आश्चर्य की क्या बात है!

हनुमान जी की माँ से जब सारी बातचीत हो चुकी, तो अन्त में वे कहते हैं – माँ, मुझे बड़ी भूख लगी हुई है –

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। ५/१७/७

कहाँ तो वहाँ पर ऊँची-ऊँची वेदान्त, ज्ञान, वैराग्य आदि की बातें करते, परन्तु हनुमानजी का तात्पर्य था कि माँ और बेटे के बीच में ज्ञान-विज्ञान की चर्चा नहीं चलती, वहाँ तो खाने-पाने की ही चर्चा चलती है। माँ को चिन्ता है कि बेटा भूखा तो नहीं है। – माँ, मैं भूखा हूँ। हनुमानजी ने देखा कि बड़े सुन्दर-सुन्दर फल लगे हुए हैं –

लागि देखि सुंदर फल रूखा ।। ५/१७/७

फिर वही सुन्दर। बड़े सुन्दर फल हैं। माँ ने कहा – सुन्दरता तो ऊपर की वस्तु है। खाने की वस्तु बाहर से

सुन्दर हो और भीतर से कड़वी हो, तो वह ठीक नहीं।

संसार-रूपी यह जो मोह की वाटिका है, इसके फल देखने में तो बड़े सुन्दर होते हैं, तो इसे खायें या न खायें? माँ ने आशीर्वाद दिया – पहले सुन्दर को मधुर बनाओ और तब खाओ। – कैसे? बोले – जब वह सुन्दर फल भगवान को अर्पित कर दोगे, तो वह मधुर हो जायेगा –

रघुपति चरन हृदयँ धरि तात मधुर फल खाहु ।। ५/१७

तो हनुमानजी भगवान को अर्पण करके फल खाने लगे। और सारा बाग उजाड़ दिया –

फल खाएसि तरु तोरैं लागा । ५/१८/१

बन्दरों ने पूछा – आपने तो माँ से फल खाने की आज्ञा ली थी, यह बाग कैसे उजाड़ दिया? क्या आपने माँ से बाग को उजाड़ने की आज्ञा ली थी? क्या आपने यह कार्य माँ से आज्ञा लिये बिना नहीं किया?

हनुमानजी बोले – मैं गया तो फल खाने के लिये था।

– पर बाग को क्यों उजाड़ दिया?

बोले – यह फल खाने का फल था!

– फल खाने का फल?

बोले – माँ की कृपा का फल खाने के बाद भी यदि मोह की वाटिका न उजड़े, तो वह फल खाना किस काम का! सचमुच यह बड़ी अद्भुत बात है।

भगवान श्रीरामकृष्ण ने अवतार लेकर स्वामी विवेकानन्दजी के माध्यम से, मानो हनुमानजी के ही रूप में जिस प्रकार विजय प्राप्त की, जिस प्रकार विचारधारा का प्रचार-प्रसार किया, वह श्रीराम-चरित-मानस में संकेत रूप में पूरी तौर से विद्यमान है। और वह यह है कि सब कुछ करते हुए भी, कर्म को बन्द नहीं कर देना है।

यदि आप रुग्ण होकर डॉक्टर के पास जायँ और डॉक्टर आपसे कहने लगे कि शरीर तो नाशवान है, एक दिन तो मरना ही है, तो फिर दवा क्यों लेते हो? तो क्या आपको अच्छा लगेगा? आप तो उस डाक्टर के पास भूलकर भी नहीं जायेंगे। लेकिन यह भी सत्य है कि यह शरीर एक-न-एक दिन तो छूटेगा ही और उस समय यदि कोई यह पाठ पढ़ाने लगे कि वह दवा होती तो ठीक हो जाता, वह डॉक्टर होता तो बचा लेता, ठीक से इलाज नहीं हुआ, इसलिये मर गया, तो यह बुद्धिमत्ता की बात नहीं है।

उस समय तो वैराग्य की ही जरूरत है। यही मानने और कहने की जरूरत है कि शरीर अनित्य है। कुछ विचारक समग्र जीवन के एक ही पक्ष को, एकांगी जीवन-दर्शन को संसार के सामने रखते हैं, परन्तु राम-चरित-मानस के दिव्य-दर्शन में जीवन का समग्र रूप प्रस्तुत किया गया है। उसमें दिखाया गया है कि व्यक्ति को कब कर्म, कब भक्ति, कब ज्ञान, कब दैन्य का भाव अपनाना चाहिये और इसी प्रकार वह अपने जीवन को समग्रता प्रदान कर सकता है।

इस युग में भगवान श्रीरामकृष्ण और श्रीरामकृष्ण मिशन के द्वारा इसी विचारधारा का प्रचार और प्रसार हो रहा है। हमारा जीवन कैसे, किस प्रकार से सार्थक हो, इसके लिये प्रभु ने हनुमानजी को मंत्र दिया था – हे हनुमान, अनन्य वही है, जिसकी ऐसी बुद्धि कभी नहीं टलती कि यह जड़-चेतन जगत् मेरे प्रभु का ही रूप है और मैं उनका सेवक हूँ –

सो अनन्य जाकें असि, मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत ।। ४/३

उसी भाव और विचार को भगवान रामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द ने 'शिव-भाव से जीव-सेवा' मंत्र के रूप में सारे संसार में प्रचार और प्रसार किया। तात्पर्य यह कि नारायण-भाव से, भगवद्-भाव से सारे संसार के प्राणियों की सेवा हो और इस प्रकार हमारे जीवन की धन्यता हो।

बहुत वर्षों तक मुझे राजकोट आने में संकोच बना रहा। भाषा की भी बात थी। मगर यह सुनकर मुझे आश्चर्य होता था कि मेरे ग्रन्थों को गुजरात में जितना मँगाया जाता है, उतना शायद ही कहीं मँगाया जाता हो। वे ग्रन्थ हिन्दी में लिखे गये हैं और कई बार लोगों ने कहा कि कई वक्ता तो अपने ही नाम से आपकी बात कह देते है। तो मैंने कहा – इसमें बुराई क्या है, वे ग्रन्थ तो इसीलिये लिखे गये हैं कि उसे सब पढ़े और दूसरों को भी सुनावें। उसमें मेरा क्या है, प्रभु ने यदि मेरे माध्यम से कुछ प्रगट किया, तो बड़ी अच्छी बात है कि वह प्रसारित हो। पर यहाँ आकर तो मुझे सचमुच ही अद्भुत अनुभव हुआ। इस वातावरण में राजकोट के प्रेमियों की जिज्ञासु वृत्ति देखने को मिली। यह महात्मा गाँधी से जुड़ी हुई भूमि है और यहाँ श्रीराम-भक्ति की महानतम परम्परा है। यहाँ परम सन्त श्रीसद्गुरु रणछोड़दास जी महाराज ने एक दिव्य भक्ति की धारा प्रवाहित की और जिस प्रकार यहाँ श्रीराम-चरित-मानस का संस्कार है, वह स्वयं बड़ा प्रभावित करने वाला है। इस वर्ष की यात्रा में तो मैंने जब स्वप्न में श्री जलारामजी महाराज का आदेश पाकर दर्शन किया, वह तो अद्भुत है। ऐसा लगा कि यह दिव्य वातावरण यहाँ सन्तों के द्वारा ही बना हुआ है। मुझे बहुत आनन्द और सन्तोष की अनुभूति हुई। मैं पुन: स्वामीजी महाराज का आप लोगों के प्रति आभार प्रगट करता हूँ। मुझे विश्वास है कि आप सब इस पवित्र आश्रम से प्रेरणा प्राप्त करते हुये जीवन को पूर्णता की ओर ले जायेंगे।

❖ (क्रमशः) ❖

निष्काम कर्म की महत्ता

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

गीता में निष्काम कर्म की बड़ी महिमा बताई गई है। निष्काम कर्म का महत्त्व केवल हमारे आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से ही नहीं है, प्रत्युत हमारे भौतिक जीवन में भी इसकी महत्ता निर्विवाद है। भौतिक जीवन में निष्कामता हमारे कर्मों को पूर्णता प्रदान करती है और उन्हें अधिक-से-अधिक फलप्रसू बनाती है। इसका आध्यात्मिक पक्ष कर्म में निहित स्वाभाविक विष से हमारी रक्षा करता है और हमें असफलता के समय टूटने से बचाता है। इसके साथ ही वह सफलता के उन्माद का मोचन भी करता है। ये दोनों पक्ष एक दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों पक्षों को मिलाकर ही निष्काम कर्म के सिद्धान्त का सम्पूर्ण अर्थ प्राप्त होता है। निष्काम कर्म का भौतिक पक्ष यह कहता है कि कर्म के फल की अतिरिक्त चाह मत रखो। कर्मफल की चाह तो स्वाभाविक है। जब मनुष्य कोई कर्म करता है, तो उसके फल की कामना से प्रेरित होकर ही करता है। पर गीता कहती है कि चाह की तीव्रता इतनी न कर लो कि जिससे कर्म करने की शक्ति पर बाधा पड़े। उदाहरणार्थ, एक विद्यार्थी परीक्षा की तैयारी करता है। ज्योंही पुस्तक खोलकर वह पढ़ने बैठता है, उसकी आँखों के सामने परीक्षाफल नाचने लगता है। सोचता है, यदि अमुक श्रेणी में उत्तीर्ण होऊँगा, तो विदेश पढ़ने के लिए जाऊँगा। वह कल्पना के महल खड़ा करता है और इस व्यर्थ की फलचिन्ता में उसका अधिकांश समय नष्ट हो जाता है। यह समय अगर वह पढ़ाई में लगा देता, तो उसका कर्म अधिक सक्षम और पूर्ण बनता और उस कर्म का फल भी उसके लिए अधिक वांछित होता।

यही बात प्रत्येक क्षेत्र में लागू होती है। हम कर्म करने में अधिक ध्यान न देकर उससे प्राप्त होने वाले फल के चिन्तन में व्यर्थ समय गँवाया करते हैं। अतः निष्काम कर्मरूपी सिद्धान्त का भौतिक पक्ष कहता है कि पूरी शक्ति के साथ कर्म करते चलो। उसका उचित फल तो कर्म के न्याय के अनुसार अनिवार्य रूप से प्राप्त होगा ही। व्यर्थ के फल-चिन्तन में समय न गँवाओ। फल के बारे में सोचते रहने से मन भटक जाता है, हम अपना पूरा मन कार्य में नहीं लगा पाते। इसलिये वह फल की चाह करने से हमें रोकता है।

निष्काम कर्म का आध्यात्मिक पक्ष यह कहता है कि ईश्वर-समर्पित बुद्धि से जीवन के सब कार्य करो, अर्थात् कर्म तो करो और पूरी शक्ति के साथ करो, पर उसका फल ईश्वर पर छोड़ दो। यह दृष्टिकोण हमारी रक्षा करता है। मान लीजिए किसी ने पूरे मन-प्राण के साथ एक कर्म किया और अन्त में इतने प्रयत्न के बावजूद उसे असफलता हाथ लगी। जो व्यक्ति निष्काम कर्म का विश्वासी नहीं है, उसकी क्या दशा होगी? वह टूट जाएगा, बिखर जायेगा। वह समाज को दोष देगा। वह हताश हो जायेगा और सम्भव है, जीवन से निराश हो जाये। भौतिकवादी लोगों के जीवन में हम असफलता एवं निराशा प्रायः देखा करते हैं। एक बार असफल होने पर वे पुनः खड़े होने में समर्थ नहीं हो पाते। अब उनको देखें, जो निष्काम कर्म के सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं और अपने कर्मों के फल ईश्वर की इच्छा पर छोड़ देते हैं। यदि ऐसा व्यक्ति असफल होता है, तो वह सोचता है कि ईश्वरेच्छा से ऐसा हुआ। वह सन्तोष कर लेता है कि इस असफलता से ईश्वर उसका मंगल ही करेंगे। और इस प्रकार, अपने आप को टूटने से बचाकर, वह ईश्वर पर अधिक विश्वास के साथ, दुगने उत्साह से अपने कार्य में लग जाता है। जब उसे सफलता मिलती है, तो उसे भी वह ईश्वर की कृपा समझता है और अपने आपको एक निमित्त मात्र मानता है। दोनों ही स्थितियों में कर्म का लेप उस पर नहीं लग पाता। उसका समर्पण-भाव कर्म के विष से उसकी रक्षा करता है।

यहाँ कुछ लोग यह आपत्ति उठा सकते हैं कि यह तो पलायनवाद हुआ। ईश्वर को फल समर्पित करना तो मात्र एक कल्पना है। इसका उत्तर यह है कि आखिर जीवन भी तो एक कल्पना है। यदि कोई कल्पना हमें टूटने से बचाती है तो उसका सहारा हम क्यों न लें। अक्षांश और देशान्तर की रेखाएँ कोई प्राकृतिक रेखाएँ नहीं हैं, फिर भी उनके सहारे हम हवाई जहाज और पानी के जहाज से यात्रा करके गन्तव्य पर पहुँच जाते हैं। फिर, ईश्वर तो कल्पना की उपज है नहीं, वह जीवन का शाश्वत सत्य है, अखिल शक्ति का स्रोत है। निष्काम कर्म जहाँ हमारे भौतिक जीवन को समृद्ध करता है, वहाँ हमें आध्यात्मिक रूप से भी उन्नत बनाता है। ❑ ❑ ❑

भागवत की कथाएँ (१६)

स्वामी अमलानन्द

(श्रीमद् भागवतम् पुराणों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसकी कथाओं ने युग-युग से मनुष्य को धर्म के प्रति आस्था-विश्वास दिया है जिससे भारतवासियों ने दृढ़ आत्म-विश्वास प्राप्त किया है। उन्हीं कथाओं में से लेखक ने कुछ का चयन करके सरल भाषा तथा संक्षेप में पुनर्लेखन किया है। 'विवेक-ज्योति' के लिये इस ग्रन्थ का सुललित अनुवाद किया है छपरा के डॉ. केदारनाथ लाभ, डी. लिट्. ने। – सं.)

नारद का द्वारका-दर्शन

नारद जानते थे कि श्रीकृष्ण अपनी पत्नियों को साथ लेकर द्वारका में निवास करते हैं। नारद को एक बार यह देखने की जिज्ञासा हुई कि श्रीकृष्ण के दिन कैसे बीतते हैं।

द्वारका में विश्वकर्मा ने एक बड़े सुन्दर भवन का निर्माण किया था। उसमें सोलह हजार कमरे थे। नारद ने एक कमरे में प्रवेश कर देखा कि रुक्मिणी देवी चामर लेकर श्रीकृष्ण को पंखा झल रही हैं। नारद को देखकर श्रीकृष्ण ने पलंग से उतरकर नारद के पाँव धो दिए तथा उस चरणोदक को सिर से लगाया। क्योंकि इस समय वे गृहस्थ थे और अतिथि की सेवा उनका परम कर्तव्य था। बाद में उन्होंने नारद से कुशल-क्षेम पूछा और यह जानना चाहा कि उनके आने के कोई विशेष प्रयोजन तो नहीं है।

नारद विनयपूर्वक बोले – आपके चरणों का दर्शन हुआ, यही मेरी परम उपलब्धि है। ब्रह्मा आदि देवतागण केवल हृदय में ही आपके चरणों का ध्यान करने में समर्थ हैं। संसार रूपी कुँए में गिरे हुए मनुष्य के उद्धार के मुख्य अवलम्बन उन युगल चरणों को मैं देख सका। यही मेरा परम सौभाग्य है। मुझ पर कृपा कीजिए ताकि मेरी मति इन चरणों में लगी रहे।

यह कहकर वे एक अन्य कमरे में गए। उसमें श्रीकृष्ण एक दूसरी पत्नी को लेकर उद्धव के साथ पासा खेल रहे थे। उन्होंने नारद को देखते ही उनके चरणों में अर्घ्य देकर उनकी पूजा की तथा उनके आने का क्या प्रयोजन है – जानना चाहा। नारद आश्चर्यचकित हो गए। ये तो एक बिल्कुल भिन्न व्यक्ति हैं। अभी थोड़ी देर पहले ही तो इनसे बातें हुई थी। यहाँ तो मानो कोई अलग ही व्यक्ति हैं।

बिना कुछ कहे नारद बगल के कमरे में चले गए। वहाँ देखा कि गोविन्द एक सन्तान को लेकर उसे स्नेह-दुलार कर रहे हैं। उसके बाद वाले कमरे में श्रीकृष्ण स्नान के लिए तैयार हो रहे हैं। किसी में वेद का अध्ययन, किसी में तर्पण और किसी में अर्घ्य-दान कर रहे हैं। या किसी में पुत्रियों एवं जमाइयों की विदाई या उन्हें लाने का कार्य-सम्पादन कर रहे हैं। किसी में अत्यन्त व्यय-साध्य यज्ञ द्वारा वे अपने अंश से उत्पन्न देवताओं की आराधना कर रहे हैं। फिर किसी में कुँए खोदने, देव-मन्दिर की स्थापना करने आदि जैसे गृहस्थों के लिए अवश्य करणीय कर्मों का उचित प्रबन्ध कर रहे हैं। अथवा किसी में राजधर्म का अनुसरण कर शिकार का आयोजन कर रहे हैं या किसी में वे मंत्रियों के साथ कूटनीति पर विचार-विमर्श कर रहे हैं।

लीलामय हरि मनुष्य बन कर धराधाम पर आए हैं। एक ही आधार में वे प्रेम-मय पति, कर्तव्यपरायण गृहस्थ, कुशल प्रशासक तथा कहीं वीर योद्धा बने हुए हैं। श्रीकृष्ण एक पूर्ण मनुष्य हैं।

उनकी कल्पनातीत शक्ति का अपूर्व विकास देखकर देवर्षि नारद विस्मित हो गए। वे बोले – हे, योगेश्वर ! आपकी योगमाया को देखकर मैं कृतार्थ हो गया। आज्ञा दीजिए कि यहाँ से लौटकर आपकी भुवनपावन लीलाओं का गान कर सकूँ।

जरासन्ध-वध

एक दिन एक ब्राह्मण ने द्वारका में आकर श्रीकृष्ण को सूचित किया कि गिरिव्रज के किले में जरासन्ध ने अनेक राजाओं को बन्दी बना रखा है। उनकी दुर्दशा की सीमा नहीं है। श्रीकृष्ण ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं, जो उन्हें उनकी दुर्दशा से छुटकारा दिला सकते हैं। उसी समय सहसा नारद ऋषि भी आ पहुँचे। उन्होंने बताया – युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं। इसके लिये पाण्डवों के मित्र श्रीकृष्ण की सम्मति आवश्यक है। उद्धव ने सलाह दी – जरासन्ध के वध के द्वारा राजसूय यज्ञ और राजाओं की मुक्ति, दोनों ही स्वार्थ सिद्ध होंगे। भीमसेन जरासन्ध के समकक्ष वीर हैं। भीमसेन ब्राह्मण का रूप धारण करके उसे द्वन्द्व-युद्ध के लिए ललकारें। परन्तु श्रीकृष्ण को साथ रहना होगा। जरासन्ध के वध के लिए उनकी उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक है।

उद्धव के इस परामर्श का यदुकुल के गुणी लोगों ने आनन्दपूर्वक अनुमोदन किया। बलदेव और यदुपति की अनुमति लेकर आत्मीय-स्वजनों तथा कई सैन्य-दलों से

परिवेष्टित होकर श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ पहुँचे।

राजसूय यज्ञ का एक नियम है कि इसके लिये देश के समस्त राजाओं पर विजय प्राप्त करनी पड़ती है। श्रीकृष्ण की अनुमति लेकर युधिष्ठिर ने दिग्विजय करने के लिए अपने चारों भाइयों को अनेक वीरों के साथ चारों दिशाओं में भेजा। दक्षिण में सहदेव, पश्चिम में नकुल, उत्तर में अर्जुन और पूरब की दिशा में भीमसेन गए।

उन वीरों ने अन्य सारे राजाओं को जीतकर प्रचुर मात्रा में धन प्राप्त किया तथा उसे लेकर लौट आये, पर जरासन्ध को कोई पराजित नहीं कर सका। तब श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन ब्राह्मण का वेश धारण कर जरासन्ध की राजधानी में उपस्थित हुए और जरासन्ध के दर्शन के लिए प्रार्थना की। उन लोगों ने जरासन्ध को बताया – हम लोग अतिथि हैं; बहुत दूर देश से आए हैं। हमारी कुछ याचनाएँ हैं; आप उन्हें पूरी कर दें।

जरासन्ध को सन्देह हुआ – ये कैसे ब्राह्मण हैं! कर्कश कण्ठध्वनि, सबल आकृति तथा तीर-धनुष धारण करनेवाले सुदृढ़ हाथों को देखकर लगता है कि ये छद्मवेश धारण किए हुए क्षत्रिय हैं। जो भी हो, जरासन्ध बोला – "हे राजन्य मित्रो, आप लोग जब ब्राह्मण के वेश में आए हैं, तो आप लोग ब्राह्मणोचित सम्मान ही पाएँगे। आप लोगों की याचना अपूर्ण नहीं होगी। दैत्यराज बलि का अहंकार मिटाने के लिए ब्राह्मण का वेश धारण कर वामन के रूप में भगवान विष्णु ने राजा बलि से तीन पग धरती की याचना की थी। गुरु शुक्राचार्य के मना करने पर भी राजा बलि ने उतनी धरती का दान कर अपने वचन की रक्षा की थी। मैं भी वचन देता हूँ कि आप लोगों की प्रार्थना पूरी करूँगा। बोलिये, आपकी क्या प्रार्थना है?" श्रीकृष्ण ने कहा – "हम लोग तुम्हारे साथ द्वन्द्वयुद्ध करने की याचना करते हैं। हम क्षत्रिय हैं – ये भीम हैं, ये अर्जुन हैं और मैं तुम्हारा चिर परिचित शत्रु कृष्ण हूँ।"

यह कथन सुनकर जरासन्ध क्रोध से दहक उठा। बोला – कृष्ण! तुम कायर हो। मथुरा से भागकर तुमने समुद्र में शरण ली है। मैं तुम्हारे साथ युद्ध नहीं करूँगा। अर्जुन उम्र में मेरे समकक्ष नहीं है, इसलिए उसके साथ भी युद्ध नहीं होगा। मल्लयुद्ध भीम के साथ होगा। यह कहकर उसने दो गदाएँ मँगवायीं, एक भीम को दिया और एक स्वयं लिया।

परन्तु गदायुद्ध में भीम जरासन्ध का कुछ बिगाड़ नहीं सके। बराबरी के युद्ध में अनेक दिन बीत गए। तब श्रीकृष्ण ने इशारे से बताया कि एक पेड़ की डाल को दो खण्डों में चीरने के समान, जरासन्ध की टांगों को पकड़ कर एक को नीचे और दूसरी को ऊपर उठाकर उसके शरीर को दो टुकड़ों में फाड़ देना होगा। जरासन्ध जब पैदा हुआ था, तभी उसका शरीर दो भागों में बँटा था। जरा नाम की राक्षसी ने उन दोनों भागों को एक साथ जोड़ दिया था; इसी से उसका नाम जरासन्ध हुआ। भीम ने जरासन्ध को धरती पर पटक कर उसकी दोनों टाँगों को पकड़कर चीर दिया। साथ ही जरासन्ध का शरीर दो भागों में विभक्त हो गया। जरासन्ध मारा गया। जरासन्ध के पुत्र सहदेव को श्रीकृष्ण ने राजपद पर अभिषिक्त कर दिया और बन्दी राजाओं को मुक्त कर दिया। राजाओं ने कृष्ण को प्रणाम किया – "हे शरणागतपालक, भक्त-दु:खहारी, अन्तर्यामी, हे कृष्ण! आपको प्रणाम।"[१]

श्रीकृष्ण प्रसन्न हुए तथा उन लोगों से युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में शामिल होने का अनुरोध किया।

राजसूय यज्ञ और शिशुपाल-वध

राजसूय यज्ञ आयोजित हुआ। युधिष्ठिर के सादर आमंत्रण पर देश-देश के वेदज्ञ ऋषि-मुनि, ब्राह्मण एवं राजा आकर एकत्र हुए। हस्तिनापुर से द्रोण, विदुर, भीष्म आदि पूज्य श्रेष्ठगण आये। शिशुपाल भी राजसभा में आए। इन्द्र आदि दिक्पालों की उपस्थिति में नियमानुसार यज्ञ शुरू हुआ।

अब प्रश्न हुआ, इस सभा में एकत्र लोगों में सबसे पहले किनकी पूजा होगी? – पुरुषोत्तम कौन हैं! बहुत विचार-विमर्श हुआ। माद्रीपुत्र सहदेव ने कहा – जो अद्वितीय हैं, संसार के सारे जीव जिनके अधीन हैं, वे कृष्ण ही श्रेष्ठ हैं। पुरुषोत्तम की पूजा वे ही ग्रहण करेंगे। सभा में उपस्थित सब ने साधु-साधु कह कर इस प्रस्ताव का अर्घ्य निवेदित किया।

शिशुपाल ने अपने आसन से उठकर प्रतिवाद करते हुए कहा – "आज से कलियुग आरम्भ हुआ। एक बालक की वाणी ने वृद्धजनों को भ्रमित कर दिया है। इस सभा में बहुत सारे ज्ञानी-गुणी जन उपस्थित हैं, मैं नहीं समझ पाता कि उन्हें छोड़कर यह गोप बालक किस तरह पुरुषोत्तम हो सकता है।" इसके बाद वह श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर आदि को कठोर शब्दों में गालियाँ देने लगा। श्रीकृष्ण ने कोई उत्तर नहीं दिया। अनेक राजागण अस्त्र-शस्त्र लेकर शिशुपाल को मारने के लिए उद्यत हुए। शिशुपाल ढाल-तलवार लेकर युद्ध के लिये तैयार हुआ। श्रीकृष्ण ने अपने पक्ष के राजाओं को युद्ध करने से रोका। श्रीकृष्ण ने चक्र से शिशुपाल का शिर काट दिया। शिशुपाल की देह से उल्कापात् के समान एक ज्योति निकलकर श्रीकृष्ण के शरीर में प्रविष्ट हो गयी। हिरण्य-कशिपु, रावण और शिशुपाल – लगातार इन तीन जन्मों में वैरभाव के प्रभाव से श्रीहरि का ध्यान करते-करते शिशुपाल ने भगवान के साथ तन्मयता (श्रीकृष्ण की स्वरूपता) प्राप्त की और उनके साथ एकाकार हो गया।[२] ❖ **(क्रमशः)** ❖

---

१. कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणत क्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नम:॥ १०/७३/१६

२. जन्मत्रयानु गुणित वैर संरब्धया धिया।
ध्यायँस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम्॥ १०/७४/४६

आत्माराम के संस्मरण (६)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: अपने जीवन के कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ घटनाएँ प्रकाशित हुई हैं और कुछ नयी – अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ भिन्न रूप में लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। अनुवादक तथा सम्पादक हैं – स्वामी विदेहात्मानन्द। – सं.)

मुजफ्फरनगर के डॉक्टर बाबू

संन्यासी अगले दिन सुबह चलकर दोपहर तक मुजफ्फर-नगर पहुँचा। रास्ते पर पके हुए आम और जामुन पड़े हुए थे। खूब खाया था, इसीलिये विशेष भूख नहीं थी। एक डिस्पेंसरी (चिकित्सालय) के सामने खड़े होकर मेरठ का रास्ता पूछा। डॉक्टर ने उसे भीतर बैठने को कहकर पूछा – "रास्ता क्यों पूछ रहे हैं, ट्रेन का समय भी तो अभी है।"

संन्यासी – पैसे नहीं हैं, पैदल ही जाऊँगा।

– यदि कोई पैसे दे तो?

– तो फिर गाड़ी से जाने में कोई आपत्ति नहीं है।

– ट्रेन जाने में अभी देरी है, यहीं बैठिये। आप इस अंचल के नहीं प्रतीत होते। आप किस प्रदेश के हैं?"

– "भारतीय।" – (हँसकर) "हाँ, वह तो देख ही पा रहा हूँ, अर्थात् शरीर किस प्रदेश का है?"

– "बंगाल का।" – "ऐसा कहिये न महाराज! इस तरफ बीस साल से हूँ। आपको देखते ही लगा कि बंगाली हैं। कुछ खाना-पीना हुआ है न? संन्यासी को पूछना पड़ता है, कुछ बुरा मत मानियेगा। यह हमारा गृहस्थ-धर्म है।"

– "जी, रास्ते में पड़े हुए आम और जामुन खाये हैं।"

– "उससे भी क्या पेट भरता है महाराज!" इसके बाद कम्पाउंडर से बोले – "जाओ पूरी-तरकारी ले आओ।"

खाना हो जाने के बाद – "अब इतनी देर बाद मन को चैन मिला! पेट में अन्न गये बिना कुछ भी अच्छा नहीं लगता।" इसके बाद विभिन्न विषयों पर बातें हुईं, प्रवासी बंगालियों के बारे में बातें हुईं। – "यहाँ पर कई घर बंगाली आ जाते हैं, पर वे लोग बंगाली को देखते ही किनारा काट जाते हैं – परन्तु मैं और कुछ तो नहीं, एक समय थोड़ा-सा खिला देता हूँ; और कई बार घर से भागे हुए लड़के आने पर, उनका टिकट कटवाकर घर रवाना कर देता हूँ।"

संन्यासी – "मुझे भी इसीलिये टिकट दे रहे हैं क्या?"

अट्टहास के साथ – "नहीं, नहीं, इतने साधुओं की सेवा कर रहा हूँ। यह तो गृहस्थ का धर्म है। इस गृहस्थ आश्रम के ऊपर ही तो बाकी तीन आश्रमों का भार है। थोड़ा-बहुत जो शास्त्र देखा है, उससे इतना ही समझ में आया है। वह तो हुआ, अब बताइये आपकी पोटली आदि कहाँ है?"

संन्यासी – "यही जो साथ में है – दो कपड़े, एक कम्बल और एक गीता। परिव्राजक को इससे अधिक की आवश्यकता नहीं होती।"

– "बहुतों के पास तो बहुत कुछ होता है, विशेषकर इस अंचल के साधुओं के पास।"

– "नहीं, इस अंचल साधुओं में भी अनेक ऐसे हैं, जो केवल एक मोटा चादर रखते हैं, उसके सिवा और कुछ भी नहीं रखते। फिर आप जैसा कह रहे हैं, वैसे भी बहुत हैं।"

मेरी गाड़ी का समय हो गया था, अत: और बातचीत का समय नहीं था। कम्पाउंडर ने साथ जाकर टिकट कटाकर गाड़ी में बैठा दिया। संन्यासी विदा लेते समय डॉक्टर को खूब धन्यवाद देते हुए बोला – "बंगाल के बाहर लोगों के मन में बंगाली लोगों के बारे में अच्छी धारणा हो, इस दिशा में आपका प्रयास देखकर मुझे विशेष आनन्द हुआ।"

मेरठ के अनुभव

सुबह मेरठ पहुँचकर संन्यासी किसी स्वतंत्र आश्रम की खोज में जा रहा था। (उस समय डॉक्टर घोष के परिवार के साथ परिचय न था। केवल नाम ही ज्ञात था और यह भी मालूम था स्वामी विवेकानन्द आदि ने उनके घर पर आतिथ्य स्वीकार किया था।) दिल्ली गेट के सामने एक संन्यासी के साथ भेंट हुई। "ॐ नमो नारायणाय" – कहकर उन्होंने ही बातचीत शुरू की – "लगता है अभी-अभी आये हैं! चलिये हमारे अड्डे पर आसन जमाकर स्नान आदि कर लीजिये। भिक्षा की व्यवस्था भी हो जायेगी। यहाँ सुबह-सुबह ही भिक्षा के लिये जाना पड़ता है।" इतना कहकर वे सामने के एक शिव-मन्दिर में ले गये। वहाँ एक कुआँ था। स्नान आदि हो जाने के बाद उन्होंने एक मौनी योगिराज के साथ परिचय कराया, जो दक्षिण भारतीय थे। दोनों वहीं निवास करते थे। ये स्वामी आत्मानन्द पहले आर्यसमाज के प्रचारक थे। उसके बाद उसे छोड़कर अब इन्हीं योगिराज के साथ रहते हैं।

नगर के पुराने भाग में एक गली के भीतर किसी वकील साहब के घर जाकर उनके दरवाजे पर जो आदमी बैठा था, उससे बोले – "जाओ, बाबूजी को बोल दो कि दो साधु

मिलना चाहते हैं।'' परन्तु उसके कानों पर मानो जूँ तक नहीं रेंगा, बैठा-बैठा हुक्का पीता रहा। फिर थोड़े ऊँचे स्वर में वही बात बोले, तो भी वह उसी प्रकार बैठा रहा। तब वे बोले – ''ऐ, जाकर कहो कि दो जेंटलमैन साधु आये हैं, मिलना चाहते हैं।'' इतना सुनते ही वह जल्दी से दौड़ा हुआ गया और बाबूजी भी आ गये। भीतर ले गये। खाना जल्दी लाने का हुकुम हुआ। फिर बोले – ''जिस दिन इच्छा हो, आइयेगा, परन्तु थोड़ा सुबह-सुबह। अभी कचहरी का समय है, अभी किसी भी कार्य के लिये समय नहीं है।'' – यह कहकर क्षमा माँगते हुए वे कचहरी चले गये।

भोजन के बाद बाहर आकर हँसते हुए संन्यासी ने कहा – ''आपका जेंटलमैन साधु बड़े काम का सिद्ध हुआ।'' चलते हुए वे भी बोले – ''हाँ, देखा न आपने, बेटा उठा ही नहीं। यह मेरठ है। यहाँ रहना हो, तो थोड़ा-थोड़ा ऐसा ही करने की जरूरत पड़ती है। अंग्रेजी बोली खूब काम आती है।''

अगले दिन वे एक बंगाली होम्योपैथ के घर ले गये। वे सज्जन डॉक्टर थे। हमें बैठाया और घर के भीतर सूचना भेजी। उसी समय एक अन्य बंगाली दवा लेने आये। संन्यासी को देखकर – ''यह देखिये साधु हो गये हैं, कितने कष्टपूर्वक गृहस्थी चलानी पड़ती है! उसके ऊपर से इन लोगों का बोझ! शरीर में कमाकर खाने की क्षमता तो है, सो तो नहीं, जिस-तिस के कन्धे पर सवार हो जायेंगे। (डॉक्टर से) अरे महाशय, कई बार तो इनके पास पहनने का कपड़ा तक नहीं होता, अपना ही दे देना पड़ता है। सम्भव है ठण्ड से काँप रहा हो, तो कम्बल ही देना पड़ जाय।''

संन्यासी – ''महाशय, आज तक कभी दिया है?''

– ''देखिये, डॉक्टर बाबू, इनकी बात सुनिये। भिखारी की पोशाक है, परन्तु बात करने का ढंग देख रहे हैं!''

संन्यासी – ''हम आपसे कुछ माँगने तो गये नहीं। हम डॉक्टर बाबू के घर आये हैं और उनके लिये भिक्षार्थी हैं।''

डॉक्टर बाबू – ''रहने दीजिये महाशय, यह लीजिये अपनी दवा। आपको तो दफ्तर जाना है, देरी हो जायेगी।'' यह कहते हुए उन सज्जन को विदा करने के बाद वे बोले – ''स्वामीजी, कुछ बुरा मत मानियेगा। वह व्यक्ति ऐसा ही है, किसी को एक दमड़ी तक देनेवाला नहीं है।''

संन्यासी – ''वे क्या कार्य करते हैं?

डॉक्टर बाबू – ''सी.आइ.डी. में सब-इंस्पेक्टर हैं।''

संन्यासी – ''ओ, इसीलिये इतना रुआब दिखा रहे हैं।''

योगिराज तथा स्वामी आत्मानन्द के साथ संन्यासी तीन रात रहा। इन्हीं लोगों ने वृन्दावन का टिकट कटा दिया। अच्छी देखभाल की थी, दोनों का बड़ा अच्छा स्वभाव था।

मेरठ में उन दिनों ठाकुर के गृही भक्त श्रद्धेय देवेन्द्र नाथ मजुमदार की शिष्य-मण्डली ने मिलकर एक 'अर्चनालय' की स्थापना की थी। जहाँ तक स्मरण आता है, इसके मुख्य उद्योगी गणेश बाबू थे। ये मिलिटरी के एकाउंट विभाग में कार्य करते थे। एक दिन संध्या को संन्यासी उनके अर्चनालय में गया था। वहाँ डॉक्टर घोष के दामाद पाल महाशय के साथ परिचय हुआ। ये सभी मजूमदार महाशय के शिष्य हैं।

मथुरा स्टेशन की घटना

वृन्दावन जाने के लिये मथुरा स्टेशन पर गाड़ी बदलनी पड़ती है। संन्यासी ने देखा कि एक वृद्धा के पास दो-तीन बड़े-बड़े बण्डल हैं और कुली दो रुपये माँग रहा है। वृद्धा बड़े आग्रह-अनुरोध के साथ आठ आने देने को तैयार थी और गाड़ी में चढ़ा देने को कह रही थीं, परन्तु कुली बिल्कुल भी राजी नहीं हो रहा था। इधर गाड़ी के छूटने का समय हो आया था। संन्यासी ने जल्दी से जाकर उनमें से एक बड़ा-सा पोटला उठाकर बोला – ''चलिये माँ, आप गाड़ी में चढ़िये, मैं बाकी सामान भी ला देता हूँ।'' उसी समय एक अन्य सज्जन ने भी एक दूसरा बण्डल उठा लिया और वृद्धा को गाड़ी पर चढ़ाने को तैयार हुए। छोटी पोटली वृद्धा ने स्वयं ही उठा ली थी। वे सज्जन भी वृन्दावन जा रहे थे। गाड़ी में संन्यासी के पास ही बैठे और बातें करने लगे। वे थे – वृन्दावन नगरपालिका के अध्यक्ष तथा प्रेम महाविद्यालय के संचालक बाबू नारायण दास। इस प्रेम महाविद्यालय के संस्थापक राजा महेन्द्र प्रताप उन दिनों फरार थे, सम्भवत: राजद्रोह के अभियुक्त थे। ब्रिटिश सरकार की कोपदृष्टि के कारण उन दिनों वे भागकर रूस चले गये थे। सरकार ने उनकी सारी सम्पत्ति अपने कब्जे में कर ली थी। संन्यासी को उन्होंने प्रेम महाविद्यालय दिखाने का निमंत्रण दिया और अन्त में साग्रह बोले – ''जितने दिन वृन्दावन में रहेंगे, हमारे घर में भिक्षा कीजियेगा।'' संन्यासी ने इसे भगवत्कृपा ही माना।

वृन्दावन के विविध अनुभव

उन दिनों शिरीष बाबा (श्रीधरानन्द) वृन्दावन के रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम के प्रमुख थे और डॉक्टर पूर्णानन्द अस्पताल सँभालते थे। पहले से ही परिचित होने के कारण संन्यासी के आने से वे लोग बड़े आनन्दित हुए; और डॉक्टर महाराज तो विशेष रूप से, क्योंकि अस्पताल में रोगी काफी आते थे, परन्तु सेवकों का अभाव था। जाते ही सेवाश्रम के कार्य में सहायता करने लगा। पर पहले दिन जो अनुभव हुआ, उसे बताना परम आवश्यक है। जिस कमरे में मुझे रहने को दिया गया, उसी के आधे से भी कम हिस्से में पर्दा लगाकर ठाकुर -घर बना हुआ था। कमरे में दो खाटें थीं, जिनमें से एक पर डॉक्टर महाराज सोते थे। यह व्यवस्था शायद नादू महाराज की थी, जिन्हें विशेष कारणवश वहाँ से हटा दिया गया था।

संन्यासी जब पर्दा हटाकर ठाकुर को प्रणाम करने गया, तो देखा कि वहाँ धूल-ही-धूल है। और मकड़ियों का जाला

लम्बायमान होकर ठाकुर के आसन तक उतर आया है। चारों ओर सब कुछ बिखरा है, अस्वच्छता है, और प्रदीप के तेल तथा धूल ने विभिन्न आकृतियाँ धारण कर रखी हैं। वहाँ की स्थिति देखकर संन्यासी अवाक् रह गया।

संन्यासी – "यह क्या महाराज! ठाकुर का यह क्या हाल कर रखा है?" डॉक्टर विशेष नाराज होकर बोले – "यह मेरा नहीं, उन बूढ़े बाबा का विभाग है। मैं क्या करूँ। वैसे ही काम का दबाव है और उसके ऊपर वह कार्य भी करने जाऊँ, तब तो हो गया! विस्मित क्यों हो रहे हैं, अभी-अभी तो आये हैं, और भी देखेंगे।"

संन्यासी अगले दिन सुबह स्नान के पूर्व सफाई के कार्य में लगकर खूब थक गया। किसी प्रकार उस कार्य को समाप्त करके यमुना में खूब स्नान करके थकान मिटाने के बाद लौटकर सोच रहा था कि अब चाय-नाश्ता मिलेगा। परन्तु जाकर देखा तो सब समाप्त हो चुका है। दुबारा नहीं बनता। फिर शाम को ही होता है।

बूढ़े बाबा – "इतनी देरी क्यों की?"

मैंने उन्हें सब कुछ सुनाकर कहा – "यह क्या बात है?"

बूढ़े बाबा – "भाई, मैं जितना कर पाता हूँ, करता हूँ। आदमी नहीं है। जो लोग उस कमरे में रहते हैं, यह उन्हीं का तो कार्य है न! सो भाई, तुम आये हो, थोड़ा ध्यान रखना। रसोइया दोपहर में १२ बजे ठाकुर को भोग देता है और शाम को प्रदीप जलाकर दो बताशे देता है। पैसे नहीं हैं कि ज्यादा कुछ दे सकूँ। नया-नया आया हूँ। सेवाश्रम का नित्य का खर्च ही पूरा करने में परेशान हो रहा हूँ।" इसके बाद उन्होंने और भी बहुत-सी बातें कहीं।

बारह बजे देखा कि ब्राह्मण रसोइया एक थाले में भात, एक सब्जी (शायद मोंगने के फूल तथा बैगन की) और एक कटोरी दाल। थाली और कटोरी – दोनों ही एनामेल के थे और उनके भी जहाँ-तहाँ पालिश उखड़े हुए थे। संन्यासी ने कहा – "इस थाली में लाये हो। पीतल की थाली नहीं है।" रसोइये ने कहा – "रोज इसी थाल में तो आता है, पीतल की थाली नहीं है।" कुछ देर बाद वह आकर थाली ले गया। उसके बाद खाने का बुलावा आया। रसोइया एक बार परोस कर चला गया। वह खाने के लिये घर चला जाता है और दूसरी बार स्वयं लेना पड़ता है।

संन्यासी – "जिस पालिश उखड़े हुए एनामेल की थाली में ठाकुर को भोग दिया गया, वह रोगियों का थाली है क्या?

बूढ़े बाबा – "नहीं, वह अलग से रखा हुआ है। क्या करूँ भाई, पीतल के बर्तन नहीं हैं; और खरीदने के लिये पैसे भी नहीं हैं।"

संन्यासी के मन में बड़ा दुःख हुआ, परन्तु कोई उपाय न था। ओ माँ, जैसे ही दाल का पानी (अधिकांश कीड़े खाये हुए चनों की दाल।) भात में डालकर मिलाया, तो देखा कि उसमें सफेद रंग के बड़े-बड़े कीड़े हैं। डॉक्टर मन को कड़ा करके उन कीड़ों समेत भात खा रहे थे। (उनके लिये तो वह प्रोटीन ही था)। संन्यासी ने देखा कि बूढ़े बाबा भी निःसंकोच भाव से उसे गले से उतारते जा रहे हैं।

संन्यासी – "यह क्या महाराज, यह तो कीड़ों से भरा हुआ है! पण्डित ने इसे साफ भी नहीं किया है।"

डॉक्टर (भोजन चबाते हुए) – "मात्रा कम हो जायेगी।"

संन्यासी – "मैं तो इसे नहीं खा सकूँगा। यही दाल-भात ठाकुर को दिया गया है? हे भगवान!"

बूढ़े बाबा – "भाई, तुम आये हो। अच्छे चावल की व्यवस्था होते ही अच्छा दिया जा सकेगा!"

संन्यासी बिना खाये ही उठ गया। उसकी रुलाई नहीं थम रही थी – "हे ठाकुर, कैसी दुर्दशा में हो तुम!"

उसी दिन उसने राजा महाराज (बेलूड़ मठ के अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्दजी) को सब कुछ सूचित करते हुए एक पत्र लिखा और बूढ़े बाबा से बोला – "महाराज, ऐसे अन्न का भोग मत दीजियेगा। केवल बताशे ही देना उचित रहेगा।"

बूढ़े बाबा – "परन्तु भाई, दिन में एक बार अन्नभोग देना तो यहाँ का नियम है।"

संन्यासी – "यदि नियम भंग हो और उससे कोई दोष हो, तो वह मेरा होगा। आप भी राजा महाराज को लिखिये।" डॉक्टर से – "आपका तो पूजनीय शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द जी) के साथ पत्र-व्यवहार चलता रहता है। उन्हें आपने इस बात की सूचना क्यों नहीं दी?" वे निरुत्तर रहे।

सेवाश्रम की पुरानी वृद्धा नौकरानी बरतन माँजने आती थी। उसने सारी बातें सुनी और संन्यासी बिना-खाये उठ गया है, देखकर बोली – "तुम क्या खाओगे? यदि दो आने पैसे दो, तो सेठजी के मन्दिर से प्रसाद ला सकती हूँ।"

संन्यासी ने उसे नौ आने दिये। वह दो घण्टे बाद एक बड़ा लोटा भरकर परम-अन्न खीर ले आयी। उसके वृद्ध पति उस मन्दिर में पहरेदारी का कार्य करते थे। उन्हें खूब प्रसाद मिलता था और पैसे देकर खरीदने पर भी बहुत मिलता था।

डॉक्टर ने भी उस प्रसाद का अंश ग्रहण किया और तृप्त हुए। इसके बाद डॉक्टर ने ही व्यवस्था की – वृद्धा प्रतिदिन दो आने का परमान्न प्रसाद ले आयेगी।

अगले दिन से संन्यासी ने बाबू नारायण दास के घर भिक्षा लेना आरम्भ किया, परन्तु इस शर्त के साथ कि यदि वह बारह से एक बजे के भीतर न पहुँचे, तो वे लोग प्रतीक्षा नहीं करेंगे।

राजा महाराज का टेलीग्राम आया – "(ठाकुर को) अन्न देना बन्द करो। पत्र जा रहा है।" पत्र आया – "अच्छा

चावल, दाल आदि खरीदकर लाना। ठाकुर को अन्नभोग मत देना। बताशे या मिश्री देने से ही काम हो जायेगा। रुपयों की व्यवस्था हो जायेगी।''

डॉक्टर बड़े खुश होकर बोले – ''बच गये, महाराज।''

संन्यासी – ''परन्तु आप लोगों को प्रोटीनयुक्त भोजन मिल रहा था, वह तो अब नहीं मिल सकेगा!'' चीन के लोग, जो भी मिल जाता है, वही खा लेते हैं। उन लोगों के मेनू में साँप, मेढ़क, घोंघे, सीपी आदि सब कुछ रहता है।

कार्य के आधिक्य से संन्यासी अधिकांश दिन ही भिक्षा के लिये बाहर नहीं जा पाता था। निरुपाय होकर सेवाश्रम में ही खाना पड़ता था। परन्तु यह उसे पसन्द न था। किसी-किसी दिन वह एक मन्दिर में भिक्षा लेता। वे लोग जयपुरी थे और बड़े यत्नपूर्वक खिलाते थे, परन्तु भोजन अलोना होता – किसी भी सब्जी आदि में नमक नहीं डाली जाती। परन्तु अच्छा घी होने के कारण खाना अच्छा होता था।

बन्दरों का उत्पात

एक दिन बाबू नारायण दास के साथ बन्दरों के उत्पात के विषय में चर्चा हुई। यदि इन्हें धीरे-धीरे किसी जंगल में छोड़ दिया जाय, तो कैसा रहे? वे सहमत हुए और बोले कि रेलवे यदि सहयोग करे, तो इन्हें भरतपुर के जंगल में छोड़ने की व्यवस्था हो सकती है।'' संन्यासी ने कहा – ''जंगल के बीच मालगाड़ी को रोककर वैगन को खोल देना होगा। इसके लिये ऊपर के अफसरों के अनुमति की जरूरत होगी। गार्ड और ड्राइवर को ऐसा आदेश होना चाहिये।''

कुछ दिनों के भीतर ही उन्होंने एक वैगन भरकर रेलगाड़ी से भेजने की व्यवस्था की और आनन्दपूर्वक संन्यासी को सूचित किया कि स्कीम सफल हुई है। भरतपुर के जंगल में सौ बन्दरों को छोड़ दिया गया है। बन्दरों की दूसरी टोली को भी इसी प्रकार छोड़ा गया। परन्तु तीसरी टोली को छोड़ने के लिये जब मालगाड़ी में भरा गया, तो उसके गार्ड तथा ड्राइवर ने वैगन को जंगल में नहीं खोला और गाड़ी को सीधे हाथरस ले गये। वहाँ स्टेशन पर उस वैगन को खाली समझकर उसमें माल भरने के लिये उसे ज्योंही खोला गया, त्योंही कोहराम मच गया। क्रुद्ध बन्दरों की टोली ने गाड़ी में कूदकर निकली और कुलियों को नोंचते-काटते हुए जख्मी कर दिया। इसके बाद वहाँ के स्टेशन के दफ्तर में घुसकर वहाँ के बाबुओं पर हमला कर दिया और और कागज-पत्र आदि सारे सामान तितर-बितर कर दिये। आखिरकार पुलिस पार्टी को बुलाकर बन्दरों को भगाया गया। बड़ा शोरगुल मचा। – ''कहाँ से आये ये बन्दर? किसने भेजे? डिब्बे पर लेबल क्यों नहीं लगाया?'' आदि प्रश्नों का उत्तर माँगने पर ज्ञात हुआ कि वृन्दावन से लदाई हुई है, मुफ्त में लाया गया है, रास्ते में उन्हें छोड़ने के लिये कहा गया था, पर छोड़ा नहीं गया।

वृन्दावन और मथुरा के स्टेशन मास्टरों के ऊपर आरोप लगा। ऐसी चिन्ताजनक परिस्थिति उत्पन्न हो गयी कि उनकी नौकरी तक जाने की नौबत आ गयी। इसका भला पक्ष यह था कि जिन कुलियों को बन्दरों ने काटा था, उन्हें मथुरा के अस्पताल में भरती कराया गया था। सुबह ९-१० बजे बाबूजी के आदमी ने आकर संन्यासी को बताया – ''बड़ी समस्या खड़ी हो गयी है। जल्दी चलिये। आपकी प्रतीक्षा में बैठे हैं।''

समस्या क्या है – इसकी उसे जानकारी नहीं थी, अत: संन्यासी चिन्तित होकर तत्काल उनके यहाँ गया। जाकर उनके मुख से सारी बातें सुनकर बोला – ''यह तो लगता है आपने ऊपर के अफसरों के साथ नहीं, बल्कि स्टेशन-मास्टरों के साथ private arrangement (स्थानीय करार) किया है। बड़ी भूल हुई है। गार्ड और ड्राइवर ने बदमाशी करके जंगल में डिब्बे को खोला नहीं। दोनों स्टेशन-मास्टरों को बचाना ही इस समय आपका मुख्य कर्तव्य है। आप अविलम्ब मथुरा के कलेक्टर के पास चले जाइये। जाकर उसे सब बताइये। यदि वह अंग्रेज का बच्चा सहायक हो, तो सब रफा-दफा हो जायेगा। उसे सारी बातें खोलकर बताइयेगा।''

वे भी इसकी युक्तिमत्ता समझकर पहले मथुरा के कलेक्टर के पास गये। उन्होंने सब सुनने के बाद कहा – ''काम तो आप अच्छा ही कर रहे थे, लेकिन इस प्रकार arrangement (व्यवस्था) स्टेशन-मास्टरों की गैर-जिम्मेदारी है। उनके लिये ऐसा करना ठीक नहीं हुआ।'' उन्होंने बाबूजी को बताया कि वे रेलवे के बड़े अधिकारी को लिखकर व्यवस्था कर देंगे।

इसके बाद वे बाबूजी को साथ लेकर अस्पताल गये। कुली बेचारे गरीब थे, उनमें से ४-५ को बन्दरों ने खूब काट दिया था। उन्होंने उन सबको आश्वासन दिया। फिर बाबूजी से कहकर तत्काल उनमें से प्रत्येक को कुछ रुपये दिलवाये और वे लोग जितने भी दिन अस्पताल में रहेंगे, उनके भोजन आदि का खर्च देने को कहा। (उन दिनों अस्पतालों में सामान्यत: रोगियों को भोजन नहीं दिया जाता था।)

इसके बाद दोनों स्टेशन-मास्टरों की बातें सुनने के बाद वे हाथरस और उसके बाद दिल्ली भी गये। उनकी कृपा से दोनों स्टेशन-मास्टर बच गये और बाबूजी के भी केवल दो सौ रुपये खर्च हुए थे।

बाबूजी की गलती से ही घटना ने यह रूप लिया था, परन्तु घर की महिलाओं ने संन्यासी को ही दोषी माना और एक दिन स्पष्ट रूप से सुना भी दिया। तब संन्यासी ने बाबूजी को सब कुछ बताकर और भिक्षा के लिये विशेष रूप से न बुलाने को कहकर वहाँ जाना बन्द कर दिया।

जाड़े के दिन बीत चुके थे, गर्मी पड़नी शुरू हो गयी थी और एक ब्रह्मचारी कर्मी भी आ गये थे। ये ब्रह्मचारी स्वामीजी के भाई महेन्द्र बाबू के साथ लाहौर में थे। जलियाँवाला

बाग की घटना के बाद, जब अमृतसर कांग्रेस के अधिवेशन के समय लाहौर में भी गोली चली, तो महेन्द्र बाबू, उनके सेवक ब्र. प्राणेशकुमार और ये ब्रह्मचारी वृन्दावन चले आये।

संन्यासी पहले सेवाश्रम से आधे मील दूर मिट्टी के टीले की एक गुफा में रहने का इच्छुक था। वह गर्मी के मौसम में खूब ठण्डा रहता था। परन्तु वैसा हो नहीं सका। उस टीले में तीन सुन्दर गुफाएँ बनी हुई थीं, जो खूब स्वच्छ तथा ठण्डी थीं। पास के कुएँ में पीने का यथेष्ट जल था। एक गुफा में एक रामानन्दी बाबाजी निवास करते थे। उनके पास कई फटे हुए बोरे, आसन के लिये पुराना कन्था, टूटे हुए टिन, मिट्टी की टूटी हुई कलशी, टूटा हुआ तवा, मिट्टी की परात – आदि चीजें थीं।

संन्यासी ने उनसे पूछा कि क्या वह पास की खाली गुफा में निवास कर सकता है! इसके लिये किसकी अनुमति लेने की जरूरत होगी?

बाबाजी – "किसी की भी अनुमति लेने की जरूरत नहीं होगी, चले आइये। परन्तु बीच-बीच में मार खाने के लिये तैयार रहना होगा।" संन्यासी ने पूछा – "क्यों?"

बाबाजी – "यहाँ पर कुछ चोर आते हैं। शुरू-शुरू में मुझे भी बहुत मारा था और पीतल के बर्तन, कम्बल, आटा, दाल, घी – जो कुछ भी था, सब लेकर चले गये थे। सोचा कि वे लोग अब दुबारा नहीं आयेंगे, इसीलिये अखाड़े (वैष्णव मण्डली की पंचायत का स्थान) से दुबारा सब कुछ ले आया। वे लोग फिर आये और मार-पीटकर सब ले गये। उसके बाद से इस प्रकार के सब टूटे हुए टिन तथा मिट्टी के बर्तनों की व्यवस्था की। और एक सप्ताह की जरूरत के मुताबिक आटा, दाल, घी रखा। वे लोग उसे भी ले गये और इस प्रकार के टूटे हुए टीन के बर्तन देखकर मारते हुए बोले – 'अच्छा क्यों नहीं रखते?' उसके बाद से केवल दो-तीन दिन का राशन ही रखता हूँ। उसे भी बीच-बीच में ले जाते हैं। लेकिन मारना बन्द है।"

संन्यासी – "तो इतने उपद्रव के बीच रहते क्यों हैं?"

बाबाजी – "स्थान बड़ा सुन्दर और निर्जन है। कुएँ का पानी भी बड़ा अच्छा है। शहर से ज्यादा दूर भी नहीं है, इसीलिये पड़ा हूँ। यदि मार सहन कर सकते हों, तो आप भी चले आइये।"

"योग आदि के अभ्यासी को वहाँ नहीं रहना चाहिये, जहाँ जोर आदि का उपद्रव हो" – संन्यासी ने इस उपदेश का स्मरण करते हुए अन्यत्र – कालीयदमन घाट पर स्थित एक निर्जन मन्दिर में आश्रय लिया।

इन्हीं दिनों एक घटना हुई।

गोविन्दजी की आरती के बाद एक वैरागी बाबाजी मन्दिर में कीर्तन और नृत्य किया करते थे। उन्हें अनेक प्रकार की भाव-समाधियाँ होतीं और वे नृत्य भी बड़ा सुन्दर करते। इसीलिये दर्शनार्थियों की भारी भीड़ होती।

वहाँ के मुख्य पुजारी के भतीजे प्रतिदिन शाम को सेवाश्रम में आते और कार्य में भी थोड़ी सहायता करते थे। एक दिन पुजारी के भतीजे और डॉक्टर महाराज ने भी संन्यासी से खूब आग्रह करके उसे दिखाने ले गये और एक विशेष स्थान पर बैठाया, जहाँ अन्य कोई नहीं जा सकता था। अतः वहाँ से निश्चिन्त होकर देखने की सुविधा थी। करीब एक घण्टे तक देखने के बाद अस्पताल में ड्यूटी होने के कारण हम लोगों को लौटना था। पूछा गया – "भाव-समाधि कैसा देखा?" डॉक्टर महाराज खूब तारीफ करने लगे। संन्यासी बोला – "नकली है – ढोंग!" इस विषय पर उनके तर्क करने का प्रयास करने पर संन्यासी बोला – "जो मन को लगा, मैंने वही कहा। मेरा मन मलिन है, इसीलिये हो सकता है, मुझे वैसा प्रतीत हुआ हो।"

बात वहीं समाप्त हो गयी। इसके बाद जिस दिन वह गुफा देखने जा रहा था, उस दिन उसने देखा कि यमुना के किनारे खेतों के रास्ते के पास घास-फूस की एक छोटी-सी झोपड़ी बनी हुई है। झोपड़ी के भीतर से घुँघरू की छुन-छुन, झुन-झुन की आवाज आती देखकर उसने फूस की दीवार की दरार से झाँककर देखा – वही बाबाजी नाना प्रकार की अंग-भंगिमाओं के साथ नृत्य कर रहे थे। वहाँ और कोई भी न था। उनकी यह चेष्टा देखते ही सेवाश्रम में जाकर डॉक्टर और पुजारीजी के उन भतीजे को बुलाकर शीघ्रतापूर्वक वहाँ ले गया और धीरे से वह सब दिखाया। उन लोगों ने भी १०-१२ मिनट वह नृत्य देखा। इस आने-जाने में एक घण्टे से भी अधिक समय लग गया था।

पुजारी का भतीजा बोला – "महाराज, यह ठीक इसी प्रकार तो करता है, परन्तु मानो किसी नये प्रकार का अभ्यास कर रहा है।" प्रश्न उठा कि वह भाव-प्रदर्शन लोक-पूजा पाने के उद्देश्य से है या नहीं! पुजारियों ने उससे काफी पूछताछ की और उसे उस प्रकार का नृत्य-गीत करने से मना कर दिया। बाद में अन्य किसी मन्दिर से अनुमति न मिलने के बाद वह वृन्दावन छोड़कर अन्यत्र चला गया।

कालीयदमन घाट के मन्दिर में मच्छरों का इतना उपद्रव था कि विशेषकर संध्या के समय वहाँ बैठना कठिन हो जाता था और बड़ी गर्मी भी थी, क्योंकि हवा ठीक से नहीं आती थी। मच्छरों के काटने से पूरे शरीर में चेचक के समान दाग उभर आये थे। उसे देखकर बाबू नारायण दास बोले – "यह स्थान छोड़ दीजिये, नहीं तो बीमार पड़ जायेंगे"

संन्यासी ने कहा – "नासिक जाने की इच्छा है।" उन्होंने ही कुछ दूर तक का भाड़ा दिया था। ❖ **(क्रमशः)** ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(११२) बलिहारी है साँच की

इटली के प्रसिद्ध सन्त अल्फांसो पहले एक प्रसिद्ध वकील थे। अपने मुवक्किल के बचाव में वे ऐसे-ऐसे तर्क प्रस्तुत करते थे कि प्रतिस्पर्धी वकील ही नहीं, वहाँ उपस्थित लोग और स्वयं न्यायाधीश महोदय भी दंग रह जाते। लेकिन उनमें एक विशेषता और थी और वह थी कि वे झूठ का सहारा कभी नहीं लेते थे, झूठे मुवक्किल के बचाव के लिये उन्होंने कभी-भी कोई मुकदमा नहीं लड़ा था। एक बार एक मुवक्किल ने सही बात छिपाकर उन्हें अपना वकील नियुक्त किया। अदालत में बहस के दौरान विरोधी पक्ष के वकील ने जब सही तथ्यों की जानकारी दी और जब अल्फांसो ने बाद में जाँच-पड़ताल करने पर उसे सही पाया, तब उन्हें इस बात का दु:ख हुआ कि मुवक्किल ने जानबूझकर सत्य को छिपाये रखा था। दूसरे दिन अदालत की कार्यवाही शुरू होते ही अल्फांसो ने अपनी गलती स्वीकर करते हुये कहा – ''मैंने कानून की शिक्षा इसलिये नहीं पाई कि अपने तर्क के बल पर मैं झूठ को सच और सच को झूठ साबित करूँ। अपने जीवन में मैंने सत्य का ही सहारा लिया। मैंने सत्य बोलने का संकल्प लिया है और जब मैं उसे अपनी वाणी द्वारा व्यक्त करता हूँ, तब कर्मों से उसे क्यों वंचित करूँ। जिस कर्म में विचार और वाणी का समन्वय न होता हो, उस कर्म को करने में मैं अपने को बाध्य नहीं कर सकता। झूठ का सहारा लेकर अपराधी को निरपराध और निरपराधी को अपराधी साबित करना मेरे लिये अनैतिक होगा। भगवान का शुक्र है कि मैं ऐसा करने से बच गया। मगर मैं अब ऐसी स्थिति नहीं लाना चाहता।'' ऐसा कहकर उन्होंने अपना वकील का चोगा उतारकर रख दिया। इस घटना का उनके मन पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि वे वकील से संन्यासी बन गये।

(११३) साधु-धन का भूखा नहीं

चीनी संत लात्सु बड़े ही निर्धन थे। उन्हें एक समय का भोजन भी बड़ी मुश्किल से जुटता था। कभी-कभी तो फाँके की भी नौबत आ जाती थी। दूसरों के द्वारा दिये गये भोजन से ही उनका गुजारा होता था। मगर उन्होंने कभी किसी के सामने हाथ नहीं पसारा। राजा को जब उनकी इस खस्ता हालत की खबर मिली, तो उसने अपने एक मंत्री के हाथों सोना, चाँदी तथा कीमती वस्त्र उनके पास भिजवाये।

मंत्री ने कहा – ''भगवान से आपका दु:ख देखा नहीं गया, इसलिये उसने यह सब भिजवाया है।'' लात्सु बोले – ''क्या तुम नहीं जानते कि मैं फाकेमस्ती में ही खुश हूँ? भगवान भी यह सब जानता है। लेकिन तुमने इस बात पर गौर नहीं किया कि जो राजा किसी के कहने पर हमारी मदद कर सकता है वह हमारे किसी दुश्मन की बात पर यकीन करके हमारी हत्या भी कर सकता है।'' संत ने बड़ी विनम्रता के साथ राजा द्वारा भेजी गई सारी चीजें मंत्री को वापस करते हुए कहा – ''राजा को सूचित कर दो कि मैं अपनी हालत पर खुश हूँ। मुझे किसी की हमदर्दी की जरूरत नहीं है।'' मंत्री सारी चीजें लेकर चुपचाप वापस चला गया।

(११४) जिस पर हो श्रद्धा-विश्वास

मुल्ला नसीरुद्दीन अपनी नवविवाहिता पत्नी के साथ नाव में सवार हो सैर कर रहे थे कि अचानक जोर की आँधी और तूफान आया और नाव हिलने लगी। इससे यात्रियों में हड़कम्प मच गया। मगर नसीरुद्दीन शान्त ही थे। यह देख पत्नी ने उनसे पूछा – ''क्या तुम्हें डर नहीं लगता?'' – ''डर काहे का?'' यह कहकर उन्होंने कमर में खोंसी हुई छुरी निकाल ली और उसे पत्नी के गले से लगा दिया।

इसका पत्नी पर जब कोई असर नहीं दिखाई दिया, तो उन्होंने पत्नी से पूछा – ''क्या तुझे डर नहीं लगा?'' पत्नी ने उत्तर दिया – ''मैं जानती हूँ कि छुरी मेरी जान ले सकती है, लेकिन में जानती हूँ कि मेरे पति दयालु है और उनका मुझ पर प्रेम है। इसलिये मुझे छुरी से जरा भी डर नहीं लगा।''

– ''तुम ठीक कहती हो। जिस प्रकार छुरी खतरनाक होते हुये भी तुम्हें वह खतरनाक नहीं लग रही है, उसी प्रकार नदी की ये लहरें भले ही खतरनाक हैं, लेकिन उनका निर्माता ईश्वर प्रेमरूपी-सागर होने के कारण मुझे तूफान का तनिक भी डर नहीं लगा। ईश्वर पर जिसका श्रद्धा-विश्वास होता है, उसे संकट में जरा भी भय नहीं लगता। श्रद्धा का अर्थ है – भगवान के प्रति पूर्ण आस्था और निष्ठा होना। यह आस्था अन्त:करण की शुद्धि से होती है। अन्त:करण की शुद्धि साधना से होती है और साधना विश्वास से होती है। इस प्रकार ये सभी एक दूसरे के सहायक हैं। ईश्वर पर श्रद्धा और विश्वास होने से मनुष्य को सभी प्रकार की विपत्तियों का सामना करने की शक्ति मिलती है।''

एक स्वस्थ जीवन-दर्शन : मनुष्य की परम आवश्यकता (४)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रतिवर्ष की भाँति २००६ ई. में भी रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने सन्त गजानन अभियांत्रिकी महाविद्यालय, शेगाँव (महा.) के अनुरोध पर विद्यार्थियों के लिये 'व्यक्तित्व विकास एवं चरित्र-निर्माण' पर कार्यशाला का संचालन किया था। उनके उस महत्वपूर्ण व्याख्यान को हम 'एक स्वस्थ जीवन-दर्शन : मनुष्य की परम आवश्यकता' शीर्षक से प्रकाशित कर रहे हैं। इसका हिन्दी अनुवाद रायपुर आश्रम के ही ब्रह्मचारी जगदीश और इसका सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। – सं.)

हम जानते हैं कि समस्त ज्ञान जिसमें हमारे शरीर एवं मन का ज्ञान भी सम्मिलित है, ज्ञाता से ही सम्बन्धित है; न कि ज्ञेय अर्थात् जानी गयी वस्तुओं से। ज्ञान स्वयं प्रकाश है, अत: वह किसी निष्क्रिय जड़ पदार्थ से सम्बन्धित नहीं हो सकता। किसी ने भी ऐसा पदार्थ नहीं देखा, जो चेतनाशील एवं स्वप्रकाशित हो। वर्तमान समय में इस विषय पर अधिकार रखनेवाले महानतम् व्यक्तियों में एक, स्वामी विवेकानन्द कहते हैं —"हम कैसे यह जान सकते हैं कि मन के पीछे और कुछ भी है? चूँकि ज्ञान स्व-प्रकाश और बुद्धि का आधार है, अत: वह कभी जड़ का धर्म नहीं हो सकता। ऐसी जड़-वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती, जिसमें स्वरूपत: ज्ञान है। जड़भूत स्वयं ही अपने को कभी प्रकाशित नहीं कर सकता। चैतन्य ही समस्त जड़ को प्रकाशित करता है।"[१५]

हम देखते हैं कि शरीर का सार रूप चेतनाशील नहीं है तथा वह स्वयं को नहीं जान सकता; न मन ही स्वयं को जान सकता है। तथापि हम अनुभव करते हैं कि चेतना का प्रकाश शरीर एवं मन से ही अभिव्यक्त होता है। तब प्रश्न उठता है कि यह किसका प्रकाश है? स्वामीजी पुन: इसकी व्याख्या करते हैं, "वह अवश्य ऐसा आलोक है, जो किसी दूसरे से उधार नहीं लिया जा सकता है, जो किसी दूसरे आलोक का प्रतिबिम्ब भी नहीं है, पर जो स्वयं आलोक स्वरूप है। अतएव वह आलोक या ज्ञान उस पुरुष का स्वरूप होने के कारण कभी नष्ट या क्षीण नहीं होता – वह न तो कभी बलवान हो सकता है, न कमजोर। वह स्वप्रकाश है – वह आलोकस्वरूप है।"[१६]

पुन: एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि हम इस आत्मा को स्वप्रकाशित क्यों स्वीकार करें? ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि आत्मा भी अपना प्रकाश किसी अन्य स्रोत से प्राप्त करे? तब प्रश्न होगा कि यह अन्य स्रोत भी अपना प्रकाश किसी अन्य स्रोत से क्यों न ग्रहण करे और इस प्रकार यह क्रम चलता रहे। इस तरह से अनावस्था का तार्किक दोष समुपस्थित होगा। हमें किसी ऐसे बिन्दु पर ठहरना होगा, जहाँ स्रोत स्वयं ही स्वप्रकाशित है तथा उसे अपने प्रकाश को किसी दूसरे स्रोत से ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तर्क-सिद्ध एवं अनुभव से प्रमाणित स्वप्रकाश आत्मा ही, शरीर एवं मन के पीछे विद्यमान सत्य है। शरीर एवं मन से कुछ और अधिक यह तत्त्व जिस पर विचार किया गया, जो मनुष्य की सारभूत सत्ता है – यही हमारा वास्तविक स्वरूप है – यही 'आत्मा' है।

परमात्मा – अन्वेषण की पराकाष्ठा

निष्क्रिय जड़ पदार्थ एवं प्रकृति के अचेतन नियम, विश्व के व्यवस्थित क्रिया-कलाप, विकास एवं सहयोग तथा सहकार की व्याख्या नहीं कर सकते हैं। इस संसार की दृश्यमान अव्यवस्था के बीच और उससे होकर एक अटल करुणामय दैवी नियम अपने आशीर्वाद के साथ बिना किसी व्यवधान के कार्यशील है। जिनकी आँखों में देखने की क्षमता है, वे इस बात से आश्वस्त हैं कि जिस दिव्य शक्ति ने स्वयं को बुद्ध, ईसा मसीह एवं श्रीरामकृष्ण के रूप में अभिव्यक्त किया था, वही दिव्य शक्ति इस विश्व में एवं विश्व के माध्यम से क्रियाशील है। इस दिव्य शक्ति के अनेक नाम हैं, जैसे — ईश्वर, अल्लाह, भगवान, परमात्मा आदि। धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों में दिव्य शक्ति के इन अनेक नामों में से 'परमात्मा' नाम का अधिक प्रचलन है। इसीलिए हमने यहाँ 'परमात्मा' शब्द का उपयोग किया है, जिससे दिव्य सत्ता के प्रचलित मत की व्याख्या की जा सके एवं दर्शनशास्त्र के सर्वोच्च सत्य विषयक उच्चतम सिद्धान्त को व्यक्त किया जा सके।

जब हम शरीर मन की समस्या पर विचार कर रहे थे तब हमने देखा था कि ऐसा कोई स्वप्रकाश चेतन तत्त्व अवश्य होना चाहिए, जो शरीर एवं मन के इस संयुक्त रूप को आधार एवं प्रकाश (चेतना) प्रदान करे, जो कि स्वयं में चेतनशील एवं स्वप्रकाशित नहीं हैं। इन्हीं बातों का समर्थन करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं –

"वह आत्मा जो प्रत्येक मन और शरीर के पीछे है, 'प्रत्यगात्मा' अथवा व्यक्तिगत आत्मा कही जाती है और जो आत्मा विश्व के पीछे उसकी पथ-प्रदर्शक, नियन्त्रक और शासक है, वही ईश्वर है।"[१७]

पूर्व एवं पश्चिम दोनों ही दर्शनों एवं धर्मों में परमात्मा के अस्तित्व, उनकी शक्तियों, आदि के सम्बन्ध में असंख्य

सन्दर्भ विद्यमान हैं। भारतीय दर्शन के षड्दर्शनों में एक न्याय-वैशेषिक दर्शन ने परमात्मा के अस्तित्व के प्रमाण की एक सूची प्रस्तुत की है। जब हम इन तर्कों की परीक्षा करते हैं तो पाते हैं कि पाश्चात्य दर्शन की विभिन्न शाखाओं में विद्यमान लगभग सभी युक्तियाँ प्राचीन भारतीय दर्शन की इस शाखा में सम्मिलित हैं। इस न्याय वैशेषिक दर्शन में इस तरह के कम-से-कम दस प्रमाण दिये गये हैं। उनमें से कुछ अधिक महत्वपूर्ण इस प्रकार हैं –

(१) कारणवाद सम्बन्धी युक्ति,

(२) अदृष्ट आधारित युक्ति, तथा

(३) शास्त्रों के प्रमाण पर आधारित युक्ति

(१) कारणवाद सम्बन्धी युक्ति – प्रत्येक कार्य का कारण होता है, जैसे इस प्याले का, एक कारण है। विश्व की प्रत्येक संघटित वस्तु जिसमें पर्वत, सागर आदि सम्मिलित हैं, कार्य रूप ही है, क्योंकि उनका गठन अंशों के मेल से हुआ है तथा उनके आयाम सीमित हैं। इसलिए उन सभी कार्यों का कोई एक चेतन कारण होना चाहिए जो कि परमात्मा है।

(२) अदृष्ट आधारित युक्ति – हम विश्व में विद्यमान विविधताओं की किस प्रकार व्याख्या करें? क्योंकि कुछ व्यक्ति जन्म से ही सुखी होते हैं, तो कुछ जन्म से ही दुःखी, कुछ अत्यधिक बुद्धिमान तो कुछ निरे मूर्ख होते हैं। आखिर विश्व में पाई जाने वाली इन सारी विविधताओं का क्या कारण हो सकता है?

हिन्दू दर्शन कहता है कि व्यक्ति विशेष के द्वारा इस जन्म अथवा पूर्व जन्मों में किये गये कर्म ही, संसार में विद्यमान इन विविधताओं के कारण हैं। किन्तु हम देखते हैं कि संसार में व्यक्ति तुरन्त ही अपने कर्मों के फल नहीं प्राप्त करता। बुरे मनुष्य सुख भोगते हैं तथा भले मनुष्यों को कष्ट झेलने पड़ते हैं। अत: हमारे भले एवं बुरे कर्मों का फल अवश्य ही कहीं एकत्रित हो अपनी अभिव्यक्ति के समय की प्रतीक्षा करता होगा। यही 'अदृष्ट' कहलाता है। किन्तु अदृष्ट जड़ एवं अचेतन सिद्धान्त मात्र है। वह स्वयं कार्यशील नहीं हो सकता। अत: यह युक्ति दी गई कि कोई ऐसा चेतन तत्त्व होना चाहिए जो इस अदृष्ट को दिशा दे एवं कार्यरूप में परिणत करे और वह तत्त्व 'परमात्मा' ही है।

(३) शास्त्रों के प्रमाण पर आधारित युक्ति – सभी धर्मों में शास्त्रों के प्रमाण को निर्विरोध स्वीकृत किया गया है। शास्त्र उन साधु-सन्तों-ऋषियों के अनुभवों के संग्रह हैं, जिन्होंने परमात्मा के साक्षात् दर्शन प्राप्त किए, आत्म-साक्षात्कार किया।

सभी सन्त-महात्मा स्वयं परमात्मा द्वारा प्रेरित किये गये। सभी शास्त्र इस बात की घोषणा करते हैं कि परमात्मा है, परमात्मा का अस्तित्व है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त ज्ञान की परिपूर्णता परमात्मा हैं। वे सभी कारणों के कारण, महाकारण-स्वरूप हैं। केवल उनके माध्यम से ही विविध अनुभवों की व्याख्या हो सकती है एवं उन अनुभवों को समझा जा सकता है।

ब्रह्माण्ड का स्वरूप

कुछ मौलिक प्रश्न हैं जिनकी जिज्ञासा मनुष्यों में सर्वदा से विद्यमान रही है तथा आज भी विद्यमान है। जैसे, क्या यह ब्रह्माण्ड बिना किसी योजना एवं उद्देश्य के पदार्थों का आकस्मिक संयोग मात्र है? अथवा यह किसी अत्यन्त चेतनाशील सत्ता द्वारा रचित एक सुनियोजित एवं सोद्देश्य रचना है? क्या जिस विश्व से हमारा परिचय है, वह अकारण है एवं जीवन, पदार्थों की क्रिया का आकस्मिक परिणाम मात्र है? ये प्रश्न विज्ञान के कार्य-क्षेत्र की परिधि के बाहर हैं। विज्ञान शुद्ध रूप से व्याख्यात्मक है। वह दृश्य घटनाओं की व्याख्या करता है। वह ''कैसे'' की व्याख्या करता है, ''क्यों'' की नहीं। किन्तु ''कैसे'' का ज्ञान मात्र ही मानव मन को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। मानव-मन वस्तुओं के अर्थ का एवं व्याख्या की खोज करता है। वह ''क्यों'' का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। यहाँ पर दर्शनशास्त्र हमारी सहायता करने के लिए उपस्थित होता है। दर्शनशास्त्र वस्तुओं के ''क्यों'' की खोज करता है, वह ब्रह्माण्ड एवं जीवन के प्रयोजन तथा उनके महत्व की खोज करता है, विज्ञान एवं दर्शन के इस अन्तर को रेखांकित करते हुए डॉ. राधाकृष्णन लिखते हैं; ''किन्तु विज्ञान एवं दर्शन में एक अन्तर है। उनके अभिप्राय एवं शैली में भिन्नता है। जिस काल में विज्ञान अनुभव के विभिन्न तथ्यों का अध्ययन करता है, तब दर्शन अनुभव के अर्थ एवं लक्ष्यार्थ की सम्पूर्ण विवेचना प्रस्तुत करता है।''[१८]

सन्दर्भ-सूची –

१५. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-२, पृष्ठ-११०-१११, अष्टम पुनर्मुद्रण, अप्रैल, २००६

१६. वही, पृष्ठ-१११,

१७. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-८, पृष्ठ-८६, सप्तम पुनर्मुद्रण, जुलाई, २००४

१८. एन आइडियालिस्ट व्यू आफ लाइफ, बाय एस. राधाकृष्णन, थर्ड इम्प्रेशन १९४७, पेज-२२२

❖ (क्रमशः) ❖

खेतड़ी-दरबार का प्रस्ताव और उत्तर

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। तब वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास होकर पुनः खेतड़ी आये। मुंशी जगमोहन लाल ने उनके साथ मुम्बई जाकर उन्हें अमेरिका के लिये विदा किया। यात्रा के दौरान उन्होंने राजा को कई पत्र लिखे। उनके पूरे जीवन व कार्य में राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान रहा – क्रमशः इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

४ मार्च १८९५ ई. को राजा अजीतसिंह ने दरबार-हॉल में एक विशेष सभा बुलाई और उसकी अध्यक्षता करते हुए एक प्रस्ताव पास करके स्वामीजी को भिजवाया। उस दिन का विवरण खेतड़ी दरबार के वाक्यात रजिस्टर (पृ.१६९) में अंकित है। उसका शुद्ध हिन्दी में रूपान्तरण इस प्रकार है –

वाक्यात रजिस्टर का विवरण (४ मार्च १८९५)

"ता. ४ मार्च, १८९५ ई., मिति फागुन सुदी ८ सं. १९५१, सोमवार –

"सुबह उठे। दैनन्दिन प्रातःकृत्य समाप्त किया। स्वामी विवेकानन्द अमेरिका देश में गये और धर्म का प्रचार किया। उसका समाचार अखबार में छपा था। इस पर उन्हें पत्र लिखा गया, उसका दरबार द्वारा मंजूरी के लिये १० बजे का समय निर्धारित किया गया। आम लोगों को बुलावा भेजा गया। चारण, रावराजा आदि जो लोग अपना दस्तूरी भत्ता लेने आये हुए थे, उन्हें भी निमंत्रित किया गया। श्री हुजूर ने गुलाबी रंग की रेशमी पोशाक तथा सफेद एक्का धारण किया और चाँवर तथा मोरछल के साथ दीवानखाने में पधारे। सेना ने उन्हें बैंड के साथ सलामी दी। गद्दी पर विराजे। ११.३५ बजे दरबार शुरू हुआ। स्वामीजी के नाम जो चिट्ठी लिखी गयी थी, उसे मुंशी जगमोहनलाल ने खड़े होकर सब को सुनाया। जब मुंशीजी पत्र सुना चुके, तो गीत हुआ। १२ बजे दरबार को बरखास्त किया गया। पलटन को जाने की आज्ञा मिली। इसके बाद बारहठ चारणों ने कविताएँ पढ़कर एकत्र लोगों को सुनायी। १२.४० पर सभा विसर्जित हुई।"[१]

उक्त अवसर पर लिखा गया तथा दरबार में पढ़कर सुनाया गया (४ मार्च, १८९५ का) पत्र इस प्रकार था –

"प्रिय स्वामीजी,

आज इसी विशेष उद्देश्य के निमित्त आयोजित इस दरबार के अध्यक्ष की हैसियत से, अमेरिका के शिकागो नगर में समायोजित धर्म-महासभा में आपके द्वारा किये गये हिन्दू धर्म के योग्यतापूर्ण प्रतिनिधित्व के उपलक्ष्य में अपनी प्रजा एवं अपनी ओर से, आपको इस राज्य का हार्दिक धन्यवाद प्रेषित करते हुये मुझे अपार हर्ष हो रहा है।

मुझे नहीं लगता कि भाषा की स्वाभाविक त्रुटियों द्वारा प्रस्तुत बाधाओं के बावजूद हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों को अँग्रेजी भाषा के माध्यम से आपसे भी अधिक स्पष्टता एवं यथार्थता के साथ व्यक्त किया जा सकता था।

विदेश में आपकी वाणी एवं व्यवहार के फल-स्वरूप विभिन्न देशों एवं धर्मों के लोगों में केवल आपके प्रति श्रद्धा का ही विस्तार नहीं हुआ, बल्कि उनसे घनिष्ठता प्राप्त करने में तथा आपके निःस्वार्थ उद्देश्य की प्रगति को भी सहायता मिली है। इन सबकी हमने अतीव एवं वर्णनातीत सराहना की है। आपने विदेशों में जाकर अमेरिकी धर्म-महासभा में हमारे प्राचीन धर्म के उन सत्यों को, जो सदा से हमारे प्रिय रहे हैं, प्रतिपादित करने में जो कष्ट उठाया है, उसके लिये यदि मैं अपनी सच्ची कृतज्ञता अभिव्यक्त करते हुये आपको कुछ पंक्तियाँ औपचारिक रूप से न लिख पाता, तो इससे हमें अपनी कर्तव्य-च्युति का भान होता। निस्सन्देह यह भारत के गौरव के अनुकूल है कि आप जैसे योग्य प्रतिनिधि पाने का इसे सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

वे भद्र महोदय भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने धर्म-महासभा आयोजित की एवं आपका उत्साह के साथ स्वागत किया। उस महाद्वीप के लिये आप नितान्त परदेशी थे, आपके अनेक गुणों के प्रति उनके अनुराग से ही आपके साथ उनका सौहार्दपूर्ण व्यवहार सम्भव हुआ, और यह उनकी सहृदयता का ज्वलंत प्रमाण है।

मैं इसके साथ इस अभिनन्दन की बीस मुद्रित प्रतियाँ भेज रहा हूँ और निवेदन है कि इसे आप अपने पास रखकर शेष को अपने मित्रों में वितरित कर दें।

सश्रद्ध

आपका सच्चा शुभाकांक्षी
राजा अजीतसिंह बहादुर,
खेतड़ी

१. Swami Vivekananda : A Forgotten Chapter of His Life, Beni Shanker Sharma, 2nd Ed., 1982, P. 92-94

प्रस्ताव का उत्तर – धर्मभूमि भारत

महाराजा अजीतसिंह के उपरोक्त पत्र का उत्तर स्वामीजी ने निम्नलिखित प्रबन्ध के रूप में लिखकर भेजा –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानम् अधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।। ४/७

– जब-जब धर्म की अवनति होती है और अधर्म बढ़ता है, तब-तब मैं धर्म की स्थापना हेतु अवतीर्ण होता हूँ।''

हे राजन्, पवित्र गीता में इन वाक्यों के द्वारा सनातन भगवान संसार में आध्यात्मिक शक्ति-प्रवाह के बारम्बार होनेवाले उत्थान और पतन के नियमों की ओर इंगित करते हैं।

संसार में ये परिवर्तन बार-बार नये-नये लयों में प्रकट होते हैं और यद्यपि अन्य महान् परिवर्तनों की भाँति ये अपने कार्यक्षेत्र में आनेवाले हर परमाणु तक को प्रभावित करते हैं, तथापि अपने अनुकूल परमाणुओं को ही वे अधिक प्रभावित करते हैं।

समष्टि रूप से, जैसे आदि अवस्था में त्रिगुणों का साम्य-भाव है – इस साम्यावस्था के भंग होने और उसे पुन: प्राप्त करने के लिये निमित्त होनेवाले सारे संघर्षों को ही हम प्रकृति की अभिव्यक्ति – यह विश्व – कहते हैं और आदि साम्यावस्था प्राप्त होने तक यह जगत् एवं वस्तुओं की गतिविधि इसी प्रकार चलती रहेगी – वैसे ही मालूम होता है कि इस पृथ्वी पर जब तक मनुष्य जाति वर्तमान रूप में रहेगी, तब तक विषमता और उसकी नित्य सहचरी – साम्य-लाभ की चेष्टा – दोनों ही साथ-साथ चलती रहेंगी। इसके फलस्वरूप संसार में सर्वत्र भिन्न-भिन्न जातियों, उपजातियों से लेकर व्यक्तियों तक में विशेषत्व उत्पन्न होता रहेगा।

निष्पक्ष वितरण तथा सन्तुलन के इस जगत् में हर राष्ट्र मानो किसी विशेष प्रकार के शक्ति-संग्रह तथा उसके वितरण के निमित्त एक अद्भुत डाइनेमो है और उस राष्ट्र के पास अन्य अनेक वस्तुओं के रहने पर भी वही विशेष शक्ति उस राष्ट्र के विशेष लक्षण के रूप में उद्भासित होती है। मनुष्य-स्वभाव के किसी विशेष भाव का विशेष विकास एवं उद्दीपन होने पर उसका प्रभाव अल्पाधिक मात्रा में सभी पर होता है, पर जिस राष्ट्र का वह भाव विशेष लक्षण है एवं साधारणत: जिसे केन्द्र बनाकर वह वैसा हुआ है, उसी राष्ट्र के अन्तस्तल को वह सर्वाधिक आलोड़ित कर देता है। इसी कारण धर्म-जगत् में किसी आन्दोलन के उत्पन्न होने पर, उसके फलस्वरूप भारत में अवश्य ही अनेक प्रकार के महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रकट होंगे – क्योंकि भारत को ही केन्द्र बनाकर धर्म की तरंगें उत्थित हुई हैं; क्योंकि सर्वोपरि भारत धर्म का देश है।

हर व्यक्ति केवल उसी वस्तु को सत्य समझता है, जो उसे उसके उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होती है। सांसारिक भावापन्न लोगों की समझ में वही वस्तु सत्य है, जिसके बदले उन्हें धन की प्राप्ति हो; और जिसके बदले में उन्हें धन-लाभ नहीं होता, वह उनके लिये असत्य है। जिन व्यक्ति की आकांक्षा दूसरों पर प्रभुत्व जमाने की है, उसके लिये वही सत्य है, जिसके द्वारा उसकी यह आकांक्षा पूर्ण होती है, और शेष सब उसके लिये निरर्थक है। इसी प्रकार जो वस्तु किसी व्यक्ति की आकांक्षा-पूर्ति में सहायक नहीं होती, उस वस्तु में वह व्यक्ति किसी प्रकार का सत्य या अर्थ नहीं देख पाता।

जिन लोगों का एकमात्र लक्ष्य अपने जीवन की सारी शक्तियों के विनिमय में धन, नाम-यश या अन्य किसी प्रकार का भोग-विलास अर्जित करना हैं, जिनकी समझ में रणभूमि-गामी सुसज्जित सेना ही शक्ति के विकास का एकमात्र प्रतीक है, जिनके लिये इन्द्रिय-सुख ही जीवन का एकमात्र आनन्द है – ऐसे लोगों के लिये भारत सदा ही एक बड़े मरुस्थल के समान प्रतीत होगा, जहाँ की आँधी का एक झोंका ही उनकी कल्पित जीवन की धारणा के लिये मानो मृत्युस्वरूप है।

पर जिन लोगों की जीवन-तृष्णा इन्द्रिय-जगत् से सुदूर स्थित अमृत-सरिता के दिव्य सलिल-पान से पूर्णत: बुझ चुकी है, जिनकी आत्मा ने – सर्प के केंचुल-त्याग की तरह – काम, धन और कीर्ति-स्पृहा के विभिन्न बन्धनों को दूर फेंक दिया है, जिनका मन शान्ति की अत्युच्च शिखर पर पहुँच गया है और जो वहाँ से इन्द्रिय-भोगों में आबद्ध तथा नीच-जनोचित कलह, विषाद और द्वेष-हिंसा में रत लोगों को प्रेम तथा सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखते हैं, जिनके संचित पूर्व सत्कर्म के प्रभाव से, आँखों के सामने से अज्ञान का आवरण लुप्त हो गया है, जिससे वे असार नाम-रूप को भेदकर सच्चे सत्य का दर्शन करने में समर्थ हुये हैं – ऐसे व्यक्ति चाहे कहीं भी क्यों न रहें, भारत उनके समक्ष भिन्न रूप में – आध्यात्मिकता की जननी तथा अनन्त खान-स्वरूप अधिक महिमान्वित और उज्ज्वल भासित होगा। इस मायावी जगत् में जो एकमात्र सच्ची सत्ता है, उसकी खोज में रत प्रत्येक व्यक्ति के लिये भारत आशा की एक प्रज्वलित शिखा है।

अधिकांश लोग शक्ति को तभी शक्ति समझते हैं, जब वह उनके अनुभव के योग्य होकर स्थूलाकार में उनके सामने प्रकट होती है। उनकी दृष्टि में समरांगण में तलवारों की खनखनाहट आदि ही परम स्पष्टत: प्रत्यक्ष शक्ति के विकास प्रतीत होते हैं; और जो आँधी की भाँति सामने से चीजों को तोड़-मरोड़कर उथल-पुथल पैदा न कर देती हो, वह उनकी दृष्टि में जीवन की अभिव्यक्ति नहीं, वरन् मृत्यु-स्वरूप है। इसीलिये शताब्दियों से विदेशियों द्वारा शासित तथा निश्चेष्ट, एकताहीन तथा देशभक्तिहीन भारत उनके समक्ष ऐसा प्रतीत होगा, मानो वह गलित अस्थि-चर्मों से ढँकी भूमि मात्र हो।

कहते हैं – योग्यतम ही जीवन-संग्राम में जीवित बचता

है। तो फिर प्रश्न उठता है कि सामान्य धारणानुसार यह राष्ट्र जो अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा नितान्त अयोग्य है, भीषण राष्ट्रीय दुर्भाग्य-चक्र में फँस जाने पर भी उसके विनाश का कोई चिह्न दिखायी क्यों नहीं देता? जैसे एक ओर तथाकथित बलवान और कर्मपरायण राष्ट्रों की प्रजनन शक्ति प्रतिदिन कम होती जा रही है, वैसे ही दूसरी ओर (तथाकथित) नैतिकता-विहीन हिन्दुओं की वृद्धि सर्वापेक्षा अधिक हो रही है – यह कैसे होता है? जो लोग एक पल में सारे विश्व को रक्तरंजित कर सकते हैं, उनके लिये तारीफ की झड़ी लग सकती है; जो लोग कुछ लाख लोगों के सुख के लिये संसार के अधिकांश लोगों को भूखा मार सकते हैं, वे भी गौरवान्वित हो सकते हैं, परन्तु जो लोग अन्य लोगों का अन्न न छीन कर, लाखों लोगों को सुख और शान्ति प्रदान करते हैं, वे क्या किसी प्रकार का सम्मान प्राप्त करने के योग्य नहीं हैं? शताब्दियों से दूसरों पर किसी भी प्रकार का अत्याचार न कर के लाखों के भाग्य का संचालन करनेवालों के कार्य में क्या किसी प्रकार की शक्ति का विकास प्रकट नहीं होता?

सभी प्राचीन राष्ट्रों के पौराणिक ग्रन्थों में, उनके वीरों की गाथाओं में दिखता है कि उनका प्राण उनके शरीर के किसी विशेष छोटे से अंश में आबद्ध था; और जब तक उनका वह अंश सुरक्षित रहा, तब तक वे अजेय रहे। वैसे ही लगता है मानो हर राष्ट्र के किसी विशेष अंग में उसकी जीवनी-शक्ति संचित रहती है; और जब तक वह स्थान सुरक्षित बना रहेगा, तब तक किसी भी प्रकार का दुःख या संकट उस राष्ट्र का विनाश नहीं कर सकता।

धर्म ही भारत की जीवनी-शक्ति है और जब तक हिन्दू जाति अपने पूर्वजों से प्राप्त उत्तराधिकार को न भूलेगी, तब तक संसार की कोई भी शक्ति उसका ध्वंस नहीं कर सकती।

जो लोग सदैव अपने अतीत की ही ओर दृष्टि लगाये रखते हैं, आजकल सभी उनकी निन्दा किया करते हैं। वे कहते हैं कि इस प्रकार निरन्तर अतीत की ओर देखते रहने के कारण ही हिन्दू जाति को तरह-तरह के दुःख और विपत्तियाँ भोगनी पड़ी हैं। परन्तु मेरी तो यह धारणा है कि इसका उलटा ही सत्य है। जब तक हिन्दू जाति अपने अतीत को भूली हुई थी, तब तक वह बेहोशी की हालत में पड़ी रही और अतीत की ओर दृष्टि जाते ही चहुँ ओर पुनर्जीवन के लक्षण दिखायी दे रहे हैं। **भविष्य को इसी अतीत के साँचे में ढालना होगा, अतीत ही भविष्य होगा।**

अतः **हिन्दू लोग जितना ही अपने अतीत का अध्ययन करेंगे, उनका भविष्य उतना ही उज्ज्वल होगा**; और जो कोई इस अतीत के बारे में प्रत्येक व्यक्ति को विज्ञ करने की चेष्टा कर रहा है, वह स्वजाति का परम हितकारी है। भारत की अवनति इसलिये नहीं हुई कि हमारे पूर्वजों के नियम तथा आचार-व्यवहार बुरे थे, अपितु उसकी अवनति का कारण यह था कि उन नियमों और आचार-व्यवहारों को उनकी अन्तिम परिणति तक नहीं ले जाने दिया गया।

भारतीय इतिहास का हर विचारशील पाठक जानता है कि भारत का सामाजिक विधान हर युग में बदला है। आरम्भ में ये नियम एक ऐसी विराट् योजना के पुंजीभूत रूप थे, जिसे भविष्य में क्रमशः फलीभूत होना था। प्राचीन भारत के ऋषि इतने दूरदर्शी थे कि उनकी ज्ञानराशि के महत्त्व को समझने के लिये विश्व को अभी अनेक शताब्दियों तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी; और उनके वंशधरों द्वारा इस महान् उद्देश्य को पूर्णतः ग्रहण करने की यह अक्षमता ही भारत की अवनति का एकमात्र कारण है।

प्राचीन भारत सदियों तक ब्राह्मण और क्षत्रिय अपनी इन दो प्रधान जातियों की महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये एक युद्धक्षेत्र बना रहा। एक ओर पुरोहित-वर्ग आम जनता पर क्षत्रियों के अन्यायपूर्ण सामाजिक अत्याचार के विरुद्ध थे – उस प्रजा पर क्षत्रियगण अपने धर्मसंगत खाद्य के रूप में देखा करते थे – और दूसरी ओर, भारत की एकमात्र शक्ति-सम्पन्न क्षत्रिय जाति ने जनता को पुरोहितों के आध्यात्मिक अत्याचार से बचाने तथा उनके निरन्तर बढ़ते हुए कर्मकाण्डों के चंगुल से उसे छुड़ाने के लिये कमर कसी थी। इसमें क्षत्रियों को कुछ हद तक सफलता भी मिली थी।

यह संघर्ष हमारे राष्ट्र के इतिहास के एकदम प्रारम्भिक युगों में ही शुरू हुआ था और समस्त वेदों में वह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। जब क्षत्रियों तथा ज्ञानकाण्ड के नेता कृष्ण ने, दर्शन, उदारता एवं धर्म का सारस्वरूप गीता की शिक्षा द्वारा समन्वय का मार्ग दिखाया; तो कुछ काल के लिये यह विरोध कम हुआ, परन्तु संघर्ष का कारण तब भी विद्यमान था, अतः उसका परिणाम अनिवार्य था।

निर्धन एवं अशिक्षित जनता पर प्रभुत्व स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा इन दोनों जातियों में विद्यमान थी, अतः संघर्ष पुनः भयानक हो उठा। हमें उस समय का जो थोड़ा-बहुत साहित्य उपलब्ध है, वह प्राचीन काल के उसी प्रबल संघर्ष की क्षीण प्रतिध्वनि मात्र है। परन्तु अन्त में क्षत्रियों की विजय हुई, ज्ञान की जीत हुई, स्वाधीनता की जीत हुई; कर्मकाण्ड को नीचा देखना पड़ा और उसका अधिकांश हमेशा के लिये विदा हो गया। यह वही क्रान्ति थी, जिसे हम बौद्ध सुधारवाद कहते हैं। धर्म की दृष्टि से यह कर्मकाण्ड के हाथों से मुक्ति का सूचक है, और राजनीति के दृष्टिकोण से यह क्षत्रियों के द्वारा पुरोहितों का पराभव सूचित करता है।

यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात है कि प्राचीन भारत ने जिन दो सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को जन्म दिया था, वे दोनों ही क्षत्रिय हैं – वे थे कृष्ण और बुद्ध। और यह उससे

भी अधिक ध्यान देने योग्य बात है कि इन दोनों ही देव-मानवों ने लिंग और जाति के भेद को न मानकर, सबके लिये ज्ञान का द्वार उन्मुक्त कर दिया था।

बौद्ध धर्म में अद्भुत नैतिक बल विद्यमान था, तथापि वह अति ध्वंसात्मक था और उसकी अधिकांश शक्ति नकारात्मक प्रयासों में ही व्यय हो जाने के कारण उसे अपनी जन्मभूमि में ही अपना विनाश देखना पड़ा और उसका जो कुछ अंश बचा रहा, वह जिन अन्धविश्वासों तथा कर्मकाण्डों के निवारण के लिये नियोजित किया गया था, उनसे सैकड़ों-गुना अधिक भयानक अन्धविश्वासों तथा कर्मकाण्डों में फँस गया। यद्यपि आंशिक रूप में वह वैदिक पशुबलि निवारण करने में सफल हुआ, परन्तु उसने पूरे देश को मन्दिरों, प्रतिमाओं, यंत्रों तथा साधुओं की अस्थियों से परिपूर्ण कर दिया।

विशेषत: उसके द्वारा आर्य, मंगोल एवं आदिवासियों का जो एक विचित्र मिश्रण हुआ, उससे अज्ञात रूप से कितने ही बीभत्स वामाचार-सम्प्रदायों की सृष्टि हुई। मुख्यत: इसीलिये श्री शंकराचार्य और उनके मतानुयायी संन्यासियों को उन महान् आचार्य बुद्ध के इस विकृत रूप में परिणत उपदेशों को भारत के बाहर निकाल देना पड़ा।

इस प्रकार मनुष्य-देह धारण करनेवाली सर्वश्रेष्ठ आत्मा स्वयं भगवान बुद्ध द्वारा परिचालित संजीवनी-शक्ति-प्रवाह भी दुर्गन्धमय रोग-कीटाणुपूर्ण क्षुद्र गन्दे जलाशय में बदल गया, और भारत को भी अनेक शताब्दियों तक प्रतीक्षा करनी पड़ी, जब तक कि भगवान शंकराचार्य और उनके कुछ ही समय बाद रामानुज तथा मध्वाचार्य का आविर्भाव नहीं हुआ।

इस बीच भारतीय इतिहास का एक पूर्णत: नया अध्याय शुरू हुआ। प्राचीन ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियाँ लुप्त हो गयीं। हिमालय तथा विन्ध्याचल की मध्यवर्ती वह आर्यभूमि, जिसने कृष्ण और बुद्ध को जन्म दिया था, जो महामना राजर्षियों तथा ब्रह्मर्षियों की क्रीड़ाभूमि रही थी, चुप हो गयी; और भारत प्रायद्वीप के सबसे आखिरी छोर से, भाषा तथा रूप में भिन्न जातियों की ओर से और प्राचीन ब्राह्मणों के वंशज कहकर गौरव-बोध करनेवाली पीढ़ियों द्वारा विकृत बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया शुरू हो गयी।

आर्यावर्त के उन ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का क्या हुआ? उनका नाम सदा के लिये मिट गया; इधर-उधर ब्राह्मणत्व तथा क्षत्रियत्व पर अभिमान करनेवाली कुछ मिश्रित जातियाँ मात्र ही बच गयीं, और इन जातियों के इस प्रकार अहंकार तथा आत्मप्रशंसापूर्ण वाक्यों के कहने पर भी कि "इस देश (ब्रह्मावर्त या ब्रह्मर्षि देश) में पैदा हुए ब्राह्मणों से ही संसार के सभी मनुष्य चरित्र-निर्माण की शिक्षा प्राप्त करेंगे,"* इन लोगों को दीन वेष में दक्षिणी ब्राह्मणों के चरणों में बैठकर विनयपूर्वक शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी। इसका परिणाम हुआ – भारत में वेदों का पुन: अभ्युदय – वेदान्त का ऐसा प्रबल पुनरुत्थान जैसा भारत ने पहले कभी नहीं देखा था; यहाँ तक कि गृहस्थाश्रमी भी आरण्यकों के अध्ययन में लग गये।

* एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन:।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा:॥ (मनुस्मृति)

बौद्ध आन्दोलन में वस्तुत: क्षत्रियगण ही नेता रहे थे तथा बड़ी संख्या में उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। सुधार तथा धर्म-परिवर्तन के उत्साह में संस्कृत भाषा तो उपेक्षित हो गयी और लोक-भाषाओं का खूब विकास होने लगा। अधिकांश क्षत्रियों ने वैदिक साहित्य तथा संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र को छोड़ दिया था। अत: दाक्षिण भारत से यह जो सुधार-तरंग उत्थित हुई; उससे कुछ सीमा तक केवल पुरोहितों का ही उपकार हुआ, परन्तु भारत की बाकी कोटि-कोटि जनता के पैरों में उसने पहले से भी अधिक जंजीरें डाल दीं।

क्षत्रियगण सदा से ही भारत का मेरुदण्ड रहे हैं, अत: वे ही विज्ञान और स्वतंत्रता के सनातन रक्षक हैं। देश से अन्ध-विश्वासों को हटा देने के लिये चिरकाल से ही उनकी वाणी प्रतिध्वनित हुई है; और भारत के इतिहास के आदि से अन्त तक पुरोहितों के अत्याचार से साधारण जनता की रक्षा करने के लिये वे स्वयं एक अभेद्य दीवार की भाँति खड़े रहे हैं।

जब उनमें से अधिकांश घोर अज्ञान में डूब गये और बचे हुए थोड़े-से क्षत्रियों ने मध्य एशिया की जंगली जातियों के साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्थापित कर भारत में पुरोहितों की शक्ति दृढ़ करने के लिये तलवार उठा ली, तब भारत के पाप का प्याला लबालब भर गया और यह भूमि एकदम नीचे डूब गयी, और इससे इसका उद्धार तब तक नहीं होगा, जब तक कि क्षत्रियगण स्वयं न जागेंगे तथा अपने को मुक्त कर शेष जाति के पैरों से जंजीरों को न खोल देंगे। पुरोहित-प्रपंच ही भारत की अधोगति का मूल कारण है। मनुष्य अपने भाई तो पतित बनाकर क्या स्वयं पतित होने से बच सकता है?

राजन्, याद रखिये, आपके पूर्वजों द्वारा आविष्कृत सत्यों में सर्वश्रेष्ठ सत्य है – इस ब्रह्माण्ड का एकत्व। क्या कोई व्यक्ति स्वयं का किसी तरह अनिष्ट किये बिना दूसरों को हानि पहुँचा सकता है? ब्राह्मण और क्षत्रियों के ये ही अत्याचार चक्रवृद्धि ब्याज के सहित अब स्वयं उन्हीं के सिर पर आ पड़े हैं, और यह हजारों वर्ष की पराधीनता और अवनति निश्चय ही उन्हीं के कर्मों का अनिवार्य फलभोग है।

ईश्वर का अवतार कहे जानेवाले आपके एक पूर्वज ने कहा था – "जिनका मन साम्य-भाव में अवस्थित है, उन्होंने जीवित दशा में ही संसार पर विजय पा ली है।"* हम सबका यही विश्वास है। तो क्या उनका यह वाक्य अर्थहीन प्रलाप के समान है? यदि नहीं है – और हम जानते हैं कि

* इहैव तैर्जित: सर्गो येषां साम्ये स्थितं मन:॥ गीता, ५/१९

ऐसा नहीं है – तब तो समस्त सृष्ट जगत् के जन्म-लिंग-विरहित, यहाँ तक कि गुण-निरपेक्ष इस सम्पूर्ण साम्य के विरुद्ध कोई भी चेष्टा भयंकर भ्रमपूर्ण है; और जब तक मानव इस साम्य-ज्ञान को प्राप्त नहीं करता, तब तक वह कभी मुक्त नहीं हो सकता।

अतएव, हे राजन् आप वेदान्त के उपदेशों का पालन कीजिये – किसी भाष्यकार या टीकाकार के मतानुसार नहीं, वरन् उसी प्रकार, जिस प्रकार आपके अन्तर्यामी प्रभु आपको समझाते हैं। सर्वोपरि, **सर्वभूतों में, सभी वस्तुओं में इस सम-ज्ञान-रूप महान् उपदेश का पालन कीजिये – सर्वभूतों में उसी एक भगवान को अवस्थित देखिये।**

यही मुक्ति का पथ है; विषमता ही बन्धन का मार्ग है। कोई व्यक्ति या कोई राष्ट्र बाह्य एकत्व-ज्ञान के बिना बाह्य स्वाधीनता नहीं पा सकती और मानसिक शक्तियों के एकत्व-ज्ञान के बिना मानसिक स्वाधीनता भी नहीं पा सकती।

अज्ञान, भेदबुद्धि तथा वासना – ये तीनों ही मानव जाति के दु:ख के कारण हैं और इनका परस्पर अविच्छिन्न सम्बन्ध है। स्वयं को अन्य मनुष्यों की अपेक्षा, यहाँ तक कि पशु से भी श्रेष्ठ समझने का किसी को क्या अधिकार है? वास्तव में सर्वत्र एक ही वस्तु तो विराजमान है – **त्वं स्त्री, त्वं पुमान् असि, त्वं कुमार उत वा कुमारी** – "तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कुमार हो और तुम्हीं कुमारी हो।"

बहुत-से लोग कहेंगे कि "इस प्रकार सोचना तो संन्यासी को ही शोभा देता है, उनके लिये ही यह ठीक है, किन्तु हम सब तो गृहस्थ है।" गृहस्थ को अवश्य दूसरे अनेक कर्तव्य पालन करने पड़ते हैं, अत: वह इस साम्य-भाव में इतना स्थित नहीं रह सकता; परन्तु उन लोगों का आदर्श यही होना उचित है, क्योंकि इस समत्व-भाव को प्राप्त करना ही सभी समाजों का, समस्त जीवों का और सम्पूर्ण प्रकृति का आदर्श है। पर हाय! लोग समझते हैं कि वैषम्य ही समता की प्राप्ति का मार्ग है, मानो अन्याय करते-करते वे न्याय के रास्ते पर जा पहुँचेंगे!

यह वैषम्य ही मानवीय स्वभाव की घोर दुर्बलता है, मनुष्य जाति के ऊपर अभिशाप-स्वरूप है और दु:ख-कष्टों का मूल कारण है। यही भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक – सर्वविध बन्धनों का मूल है।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मां ततो याति परां गतिम्।।*

– "ईश्वर को सर्वत्र समान रूप से विद्यमान देखकर वे आत्मा के द्वारा आत्मा की हिंसा नहीं करते, अत: परम गति प्राप्त करते हैं।" केवल इसी एक कथन में, थोड़े से शब्दों में मुक्ति का सार्वभौमिक उपाय निहित है।

* गीता, अध्याय १३, श्लोक २८

आप राजूपत लोग ही प्राचीन भारत के गौरवस्वरूप रहे हैं। आप लोगों की अवनति के साथ ही राष्ट्रीय अवनति शुरू हो गयी; और भारत का उत्थान केवल तभी हो सकता है, जब क्षत्रियों के वंशज ब्राह्मणों के वंशजों के साथ एकजुट होकर प्रयत्न में कटिबद्ध होंगे – लूटे हुये वैभव और शक्ति का बँटवारा करने के लिये नहीं, वरन् अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान करने के लिये और पूर्वजों की पवित्र निवासभूमि की खोयी हुई महिमा के पुन:स्थापन के लिये।

कौन कह सकता है कि यह शुभ मुहुर्त नहीं है? फिर से कालचक्र घूमकर आ रहा है, एक बार फिर भारत से वही शक्ति-प्रवाह नि:सृत हो रहा है, जो शीघ्र ही समस्त जगत् को प्लावित कर देगा। एक वाणी मुखरित हुई है, जिसकी प्रतिध्वनि चारों ओर व्याप्त हो रही है और जो प्रतिदिन अधिकाधिक शक्ति संग्रह कर रही है; और यह वाणी अपने पहले की सभी वाणियों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है, क्योंकि यह अपनी पूर्ववर्ती उन सभी वाणियों का समष्टि-स्वरूप है। जो वाणी एक समय कलकल-निनादिनी सरस्वती के तीर पर ऋषियों के अन्त:स्थल में प्रस्फुटित हुई थी, जिस वाणी ने रजत-शुभ्र हिमाच्छादित गिरिराज हिमालय के शिखर-शिखर पर प्रतिध्वनित हो; कृष्ण, बुद्ध और चैतन्य में से होते हुये समतल प्रदेशों में उतरकर सारे देश को प्लावित कर दिया था, वही एक बार पुन: मुखरित हुई है। एक बार फिर से द्वार खुल गये है। आइये, हम सब आलोक-राज्य में प्रवेश करें – द्वार एक बार पुन: उन्मुक्त हो गये हैं।

प्रिय राजन्, आप उसी जाति के वंशधर हैं, जो सनातन धर्म का जीवन्त आधार-स्तम्भस्वरूप है तथा जो उस सनातन धर्म का कर्तव्य-बद्ध रक्षक और सहायक है; आप ही क्या इससे दूर रहेंगे? मैं जानता हूँ, यह कभी नहीं हो सकता। मेरी दृढ़ धारणा है कि आपका हाथ ही सर्वप्रथम फिर से धर्म की सहायता के लिये आगे बढ़ेगा। और हे राजा अजितसिंह, मैं जब भी आपके बारे में सोचता हूँ, तब यह देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है कि आपमें आपकी वंशगत सर्वपरिचित शिक्षा के साथ ही सब मानवों के प्रति असीम प्रेमयुक्त ऐसे पवित्र चरित्र का सम्मिलन हुआ है, जिससे एक साधु भी गौरवान्वित हो सकता है; और जब ऐसे व्यक्ति ही सनातन धर्म के पुनर्गठन के इच्छुक हैं, तब मैं उसके महा गौरवशाली पुनरुद्धार में विश्वास रखे बिना नहीं रह सकता।

सर्वदा ही आप तथा आपके स्वजनों पर श्रीरामकृष्ण के आशीर्वाद की वर्षा हो और दूसरों के उपकार हेतु तथा सत्य-प्रचार के लिये आप दीर्घ काल तक जीवित रहें, यही विवेकानन्द की निरन्तर प्रार्थना है।[२]

❖ (क्रमशः) ❖

२. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ९, पृ ३४९-३५८

रामेश्वर टांटिया

तेइस सौ वर्ष पहले की बात है, यूनानी विजेता सिकन्दर तुर्की आदि देशों को रौंदता हुआ हमारे यहाँ पंजाब और सिन्ध तक पहुँच गया। उसके साथ साठ हजार फौज थी; जिनमें प्रशिक्षित घुड़सवार, तीरन्दाज और पैदल सैनिक थे। उनके पास बेहतरीन किस्म के तीर-धनुष, भाले और तरह-तरह के नये हथियार थे। वर्षों पहले वह यूनान से रवाना हुआ, कहीं भी पराजय नहीं देखी, इसीलिये मनोबल ऊँचा था।

पंजाब में उन दिनों पुरु नामक वीर और पराक्रमी राजा थे। उन्हें औरों की तरह सहज ही परास्त न किया जा सका। सिकन्दर ने छल-कपट और देशद्रोही सैनिक अधिकारियों से भेद लेकर उनका राज्य जीत लिया। वह वहाँ की व्यवस्था करने के बाद पाटलीपुत्र, मगध तथा वैशाली की ओर बढ़ना चाहता था, जो उस युग के समृद्धतम भारतीय राज्य थे।

इस बीच, उसने सुना कि रावी के तट पर एक त्रिकालदर्शी महात्मा रहते हैं। सिकन्दर के मन में उनसे मिलने की इच्छा हुई। अगले दिन, उसने उन्हें बुलाने के लिये एक सुसज्जित रथ के साथ अपने कुछ अधिकरियों को भेजा। साधु के आश्रम में पहुँचकर उन लोगों ने सिकन्दर का सन्देश सुनाया। महात्माजी ने कहा – ''भाई, मैं यहाँ वन में रहकर जितना हो पाता है परमात्मा के चिन्तन में लगा रहता हूँ। राजा-महाराजाओं को मुझ जैसे व्यक्तियों से भला क्या काम?'' सेना के अधिकारी पशोपेश में पड़ गये सम्राट् सिकन्दर महान् के निमंत्रण को आज तक किसी ने अस्वीकार करने का साहस नहीं किया था। उन्हें चिन्ता हुई कि वे लौटकर क्या उत्तर देंगे! सिकन्दर ने चलते समय यह भी कह दिया था कि संन्यासी से जोर-जबर्दस्ती न की जाय। उन लोगों ने बहुत अनुनय-विनय किया, परन्तु महात्माजी नहीं गये।

सिकन्दर ने सोचा कि गुरु की बात परखने का अच्छा मौका है। उसने आदेश की प्रतीक्षा में खड़े अधिकारियों से गम्भीरतापूर्वक इतना ही कहा कि वह स्वयं ही जायेगा।

अगले दिन वह सैकड़ों घोड़े, हाथियों तथा सैनिकों के साथ सन्त की पर्णकुटी पर पहुँचा। जाड़े के दिन थे, तेज ठण्डी हवा चल रही थी। वैसे भी पंजाब की सर्दी कड़ी होती है। उसने देखा – वे सिर्फ लंगोटी लगाये ध्यान में बैठे हैं। वह आगे बढ़ा और अपने सेनापतियों के साथ निकट जाकर खड़ा हो गया, तो भी महात्माजी का ध्यान न टूटा। उनके चेहरे पर ऐसी आभा दिखाई पड़ी कि विश्वविजेता सिकन्दर आत्मविस्मृत-सा उन्हें देखता रहा। कुछ देर बाद समाधि भंग हुई। भेंट में लाये हुये फल-फूल, शाल-दुशाले, रत्न आदि सोने के थालों में सजाकर उनके सामने रख दिये गये।

महात्माजी ने कहा – ''भाई, मुझे वृक्षों से सर्वदा ईश्वर के दिये ताजे फल मिल जाते हैं। पीने के लिये माता रावी दूध के समान स्वच्छ जल दे देती हैं। दिन में भगवान सूर्य गरमी पहुँचा देते हैं और रात में कुटी में जाकर बल्कल ओढ़ लेता हूँ। फिर भला, मुझे इन चीजों की क्या आवश्यकता?''

सिकन्दर बोला – ''इतनी ठण्डी हवा चल रही है और आपके शरीर पर एक भी वस्त्र नहीं, हम पाँच-पाँच गर्म कपड़े पहने हुए हैं, तो भी सर्दी लग रही है।'' महात्माजी का उत्तर था – ''राजन्, यह तो अभ्यास की बात है। जैसे, तुम्हारी नाक और मुँह को ठण्ड सहने का अभ्यास हो गया, वही बात मेरे सारे शरीर पर लागू होती है।''

सिकन्दर घुटने टेककर उनके पास बैठ गया। वह कहने लगा – ''महाराज मैंने इतने सारे देश जीते, मेरे पास अपार धन है और असंख्य दास-दासियाँ हैं; तो भी, न जाने क्यों मेरे मन में अशान्ति बनी रहती है, और अधिक पाने की लालसा मिटती नहीं।'' महात्माजी ने उसके ललाट की ओर देखते हुए कहा – ''युवक सम्राट्! जिसकी तृष्णा नहीं मिटी, वह चाहे कितना ही धनी हो, मन से भिक्षुक ही होता है, यह बात तुम पर भी लागू होती है। अपनी महत्त्वाकांक्षा के आवेश में तुमने इस छोटी-सी आयु में कितनी महिलाओं को विधवा किया, बच्चों को अनाथ बनाया, नगर तथा गाँव उजाड़ दिये, मगर अतृप्त ही रहे। अब भी तुम्हारे मन में इसी प्रकार की भूल करने की प्रबल इच्छा है। परन्तु यह सब किस लिये? ये सारे धन-दौलत, फौज-हथियार तुम्हारे काम नहीं आयेंगे। जीवन की अवधि को एक पल भी नहीं बढ़ा पायेंगे।''

सिकन्दर के साथी आश्चर्य कर रहे थे कि जिसके सामने बड़े-से-बड़े पराक्रमी योद्धा, राजा और सम्राट् सिर झुकाते रहे, वही आज एक मामूली फकीर के सामने हाथ बाँधे कह रहा है कि मेरा भविष्य क्या है, इसे बताने की कृपा करें?

महात्माजी थोड़ी देर मौन रहे। फिर उन्होंने कहा, ''लगता है तुम जीवन की उपलब्धियों की सीमा पर आ गये हो। इस समय तुम्हारी आयु ३३ वर्ष की है। आज से १२० दिन बाद तुम्हारा ऐहिक जीवन समाप्त हो जायगा। दुर्योग से तुम अपने परिवार से भी नहीं मिल सकोगे, क्योंकि तुम्हारी मृत्यु रास्ते में एक गाँव में होगी। जीवन के इस थोड़े से समय को यदि भगवद्-भजन और अच्छे कामों में लगा सको, तो तुम्हें शान्ति मिलेगी। आज तक जोर-जुल्म कर बहुतों से लिया,

(शेष अगले पृष्ठ पर)

ॐ शारदायै नमः

रवीन्द्रनाथ गुरुः

अम्ब ! त्वदीय चरणाब्ज-समाश्रिताय
आशा-सरीसृप-विदंष्ट्र-कलेवराय ।
इहातिमन्द चरिताय च सारदाख्ये !
ईड्ये ! सुताय तव देहि करावलम्बम् ।।१।।

– हे स्तुति करने योग्य सारदा नामवाली माता ! आशारूपी सर्प द्वारा डसी हुयी कायावाले और इस संसार में अत्यन्त मन्द चरित्रवाले, अपने चरण-कमलों में शरण लिये हुए इस पुत्र को अपने कर-कमलों का सहारा दीजिये ।।

उन्मत्त-काम-परिचालित-मानसाय
ऊर्जःस्वले ! खलु परस्व-विलुण्ठनाय
ऋणान्विताय कलुषाकुल-जीवनाय
मातः सुताय तव देहि करावलम्बम् ।।२।।

– हे शक्तिमयी माँ ! मुझ, कामनाओं द्वारा उन्मत्त तथा परिचालित बुद्धिवाले, दूसरों को छलनेवाले, ऋणों से बोझिल, पापों से आकुल प्राणोंवाले पुत्र को अपने कर-कमलों का सहारा दीजिये ।।

ऌ-वासना-सलिल-पूरनिमज्जिताय
ॡ-सारदेऽम्ब ! स्वजनैरुपहासिताय
एकैकशौऽखिल-शुभेतर-साधनाय
ऐश्वर्यदात्रि ! जय देहि करावलम्बम् ।।३।।

– हे सारदे माँ ! मुझ, सांसारिक कामनाओं के सरोवर में निमज्जित, अपने ही बन्धु-बान्धवों द्वारा उपहास के पात्र, एक-एक कर सभी तरह के दुष्कर्मों में लगे हुए को, हे ऐश्वर्यदायिनी ! अपने कर-कमलों का सहारा दीजिये । आपकी जय हो !!

ओजःप्रदे-ऽधमनृणां कलहाङ्कुराय
और्वातिदुःख-गहनेन निपीड़िताय ।
अन्यस्य दोष-गुण-चिन्तन-तत्पराय
अद्याम्ब ! देहि स्वसुताय करावलम्बम् ।।४।।

– हे ओजदात्री सारदे माँ ! मुझे दुष्ट लोगों के लड़ाई-झगड़ों के कारण धरती के अत्यन्त भयङ्कर दुखों से पीड़ित होना पड़ा है, दूसरों के दोष-दुर्गुणों के चिन्तन में तत्पर रहनेवाले इस पुत्र को आप आज ही अपने कर-कमलों का सहारा दीजिये ।।

श्री सारदे ! पाहि माम्

मातस्त्वं यतिवत्सला-ऽतिसरला श्रीरामकृष्णप्रिया
त्वत्तः सत्यशिवश्च सुन्दरमहो ज्योतिश्च ते भासते ।
सिद्धास्त्वामनुचिन्तयन्त्यविरतं देह्याशु मेधाद्युतिं
ज्योतिर्ज्ञान-विवेकदे! भगवति! श्रीसारदे! पाहि माम् ।।

– हे माता ! भगवती श्रीसारदे ! तुम अत्यन्त सरल हृदयवाली हो, साधु-सन्तों के प्रति वात्सल्य भाव रखनेवाली हो, श्रीरामकृष्ण की प्रिया हो । तुम्हीं से सत्य-शिव तथा सुन्दर प्रादुर्भूत हुए हैं और अहो ! तुम्हारी ही ज्योति सर्वत्र आलोकित हो रही है । सिद्ध महापुरुष लोग तुम्हारा सतत ध्यान-चिन्तन करते रहते हैं । तुम मुझे शीघ्र ही मेधा और तेज प्रदान करो । हे विवेक, ज्ञान तथा ज्योति प्रदायिनी माँ ! मेरी रक्षा करो ।। ❑❑❑

पिछले पृष्ठ का शेषांश

अब जरूरतमन्दों और दीन-दुखियों को देने का आयोजन करो । इसी में तुम्हारा कल्याण है । यह शाश्वत सत्य है कि धन और धरती किसी के साथ जाती नहीं । मनुष्य जैसे खाली हाथ आया है, वैसे ही संसार से चला जाता है ।''

महात्माजी का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि सिकन्दर महान् पूर्वी भारत के अपने विजय-अभियान को बीच में छोड़ वहीं से वापस लौट गया । उसके मन में एक भय-सा छा गया था कि महात्माजी के बताये हुए दिन उसकी मृत्यु हो जायेगी ।

कहते हैं कि आखिरी दिनों में उसके मनोभावों में परिवर्तन आया था । वह पहले जैसा नहीं रह गया, जिसकी भृकुटी मात्र से बड़े-बड़े सेनापति और राजा आतंकित हो उठते थे ।

प्रसिद्ध है कि बेबीलोन के एक गाँव में अपनी मृत्यु के दिन सम्राट् ने सभी दरबारियों एवं सेनानायकों को बुलाकर आदेश दिया – मृत्यु के बाद सभी जवाहरात, आभूषण, हाथी, घोड़े, रथ और मेरी निजी तलवार मेरे शव के पास सजा देना । ध्यान रहे, दोनों हाथ चादर से बाहर निकले रहें कि ताकि लोग देख सके कि विश्वविजेता सम्राट् अपना सारा वैभव पृथ्वी पर छोड़कर खाली हाथों जा रहा है । ❑❑❑
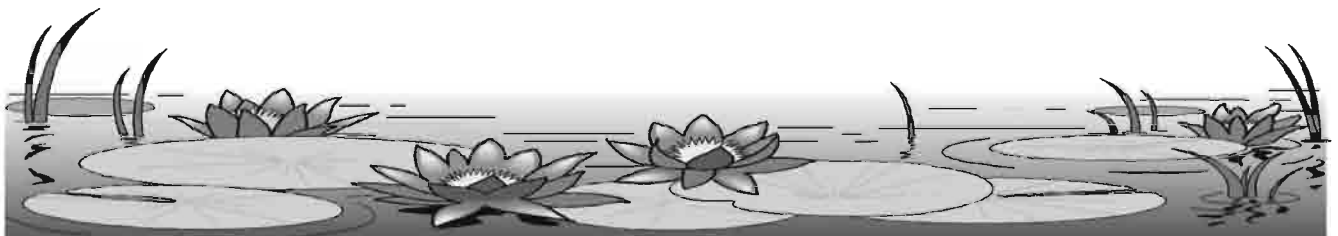
स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

इसाबेल मार्गेसन
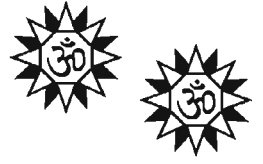
आपने अनुरोध किया है कि स्वामी विवेकानन्द के साथ अपने प्रारम्भिक परिचय तथा उनकी महानता के विषय में कुछ लिखूँ, परन्तु मुझे खेद है कि करीब चालीस वर्ष के अन्तराल के बाद अब मेरी स्मृति धुँधली हो चुकी है।

सम्भवत: जैसा होना चाहिये, वैसा ही हुआ है। उनकी स्मृतियाँ उनके उपदेशों में विलीन होकर, वे मेरे गहनतम विचारों की प्रेरणा के रूप में जीवित हैं और उन्हें मेरे दैनन्दिन जीवन की अन्तर्धारा से शायद ही अलग किया जा सकता है। मेरे मन में मुख्य स्मृति यह है कि मैं एक सत्य के सान्निध्य में रही और वह सत्य इतना महान् तथा इतना भव्य था कि इसके पूर्व मेरी जिन-जिन बातों पर श्रद्धा थी, उन सबका उसमें समावेश था। वह एक ऐसा मूलभूत आधार था, जो मेरे क्रमश: वर्धमान विचारों की आवश्यकताओं के साथ निरन्तर समायोजन में सक्षम था।

जब हम मार्ग पर चलना आरम्भ करते हैं, तो हमारे जीवन में बहुत-सी समस्याएँ अपरिहार्य रूप से जुड़ जाती है। मैं गुरुदेव के उन उक्तियों को उद्धृत करती हूँ, जिन्होंने सुख तथा दु:ख, चिन्ता तथा रोग के तनावपूर्ण क्षणों के बीच परम सकारात्मक रूप से मेरे चरित्र को गढ़ा है।

सर्वप्रथम मैं बता हूँ कि वह निर्देश बाकी सब कुछ के लिये एक चाभी के समान हैं। मैं विश्वासपूर्वक कह सकती हूँ कि उसके बिना शान्ति तथा सत्य की खोज की दिशा में आत्मा की कोई भी आन्तरिक उन्नति नहीं हो सकती।

वह चाभी प्रतिदिन ध्यान करने में निहित है। इस विषय में गुरुदेव के शब्द कभी विस्मृत नहीं हो सकते। मुझे भली -भाँति विदित है कि बाद के वर्षो में इसे प्राय: प्रत्येक आध्यात्मिक अनुभूति में एक बेशकीमती मोती के समान मान्यता मिली है, परन्तु जब मैंने पहली बार इस विषय पर स्वामीजी की कक्षा सुनी, यह मेरे लिये नयी चीज थी। बन्दर के समान मन, घोड़ों (इन्द्रियों) को नियंत्रित करनेवाला सारथी, अन्तरात्मा की निस्तब्धता, साधना की आवश्यकता, आत्मा की मुक्ति की देनेवाले शास्त्रों का अध्ययन, सत्य तथा असत्य के बीच विवेक, ऐसे विचार तथा उपदेश हैं, जो शिष्यों को तत्काल स्वामीजी की याद दिला देते हैं। व्यावहारिक ज्ञान की जो अन्य बातें मुझे याद हैं, वे मेरे अपने ही सामान्य शब्दों में इस प्रकार हैं –

(१) अपने सम्प्रदाय की छत्रछाया में रहकर अपना विकास करो, पर आजीवन उसी में बद्ध होकर मत रह जाओ। वह क्रमश: तुम्हें उच्चतर बोध की ओर ले जाय।

(२) जैसे भवन-निर्माण हेतु मचान बाँधना अनिवार्य है, वही बात आध्यात्मिक उपलब्धि के मामले में भी (सम्प्रदाय की जरूरत) है। इसे न अपने लिये नष्ट करो और न दूसरों के लिये (ईसा कहते हैं – फसल की कटाई तक दोनों को बढ़ने दो), अपितु उस अपरिहार्य क्षण की प्रतीक्षा करो, जब वह अपने आप ही नष्ट हो जायेगा।

(३) गलत कार्य को सही बताकर कभी अपने नैतिक स्तर को नीचे न जाने दो। यदि तुम जानते हो कि तुम्हारा कोई कार्य गलत है, तो भी यदि इच्छा हो तो तुम उसे कर सकते हो, परन्तु उसे सही मत ठहराओ, क्योंकि ऐसा करना एक घातक आत्म-प्रवंचना है।

(४) जब तुम अपने किसी छोटे-से कृत्य के लिये पश्चात्ताप कर रहे हो, तो अपने आप से कहो – "मैं प्रसन्न हूँ कि मैंने वह भूल की, क्योंकि अब मैं समझ गया हूँ और भविष्य में ऐसा फिर कभी नहीं करूँगा।"

(५) दूसरों के लिये किया गया नि:स्वार्थ कर्म उसे करनेवाले के लिये ही लाभकारी मानना चाहिये, क्योंकि उससे कर्ता के ही चरित्र का विकास होता है।

(६) किसी भी मानसिक अवस्था के साथ अपनी आत्मा का तादात्मय मत करो। विशेष रूप से अपने लिये दु:ख या खेद के सन्दर्भ में सम्भवत: यह मूलभूत निर्देश है। वास्तविक आत्मा को अनात्मा से मुक्त रखना ही सीधे उचित निर्णय की ओर ले जाता है।

(७) आत्मा से स्वयं को भिन्न समझना ही सबसे बड़ा धर्मविरोधी कार्य है।

(८) एकत्व ही धर्म का और विज्ञान का भी लक्ष्य है।

(९) सोऽहम् – मैं वही हूँ।

स्वामीजी की इन महान् उक्तियों के साथ मैं उन कथाओं को भी जोड़ सकती हूँ, वे अपूर्व कथाएँ जो उनकी शिक्षा के बिन्दुओं को स्पष्ट करती थीं। वे बाइबिल की बोध-कथाओं के समान ही थीं – अद्‌भुत्, 'मार्ग के ज्योति-दीप'।

स्वामीजी के शिष्यों को उस सिंह की कथा याद होगी, जो एक भेड़ के रूप में पला था, पर बाद में उसे अपने सच्चे स्वरूप का बोध हुआ। फिर उन्होंने वह कथा भी बतायी थी, जिसमें एक व्यक्ति बाढ़ के चपेट में आकर अपनी पत्नी, बच्चों तथा अपना सर्वस्व खो बैठता है, पर जब वह स्वयं सुरक्षित रूप से किनारे से जा लगता है और उसे होश आता है, तो वह समझ जाता है कि यह त्रासदी एक स्वप्न मात्र थी और वह अब भी वैसे ही है जैसा कि बाढ़ के पूर्व था।

मातृ-दर्शन की स्मृति

जितेन्द्रचन्द्र दत्त

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

भगवान श्रीरामकृष्ण की शिक्षा तथा आदर्शों के अनुरूप जीवन-गठन करने और युवकों के बीच श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा सन्देश पर चर्चा करने के लिये हम कुछ मित्र मैमनसिंह (अब बांगलादेश में) की 'महाकाली पाठशाला' के एक कमरे में नियमित रूप से एकत्र होते थे। यह १९११ ई. की बात है। १९१४ ई. के मार्च में हम लोग इस पाठशाला की ओर से श्रीरामकृष्ण के लीला-सहचर तथा ईश्वरकोटि स्वामी प्रेमानन्द को मैमनसिंह ले आये। उस समय सात-आठ दिन वे हमारे ही घर में थे। इन कुछ दिनों के दौरान उनकी सेवा का अधिकार पाकर मैं धन्य हुआ था। इसके बाद जब तक वे ढाका और नारायणगंज में थे, तब तक मुझे उनके सान्निध्य का सौभाग्य मिला था। उसी वर्ष दुर्गापूजा के बाद मैंने परम आराध्या माँ की कृपा प्राप्त की।

कामकाज के सिलसिले में मुझे बार-बार कोलकाचा जाना पड़ता था और उसी सुयोग से मुझे माँ का दर्शन और प्रणाम करने का सौभाग्य मिल जाता था। प्रणाम करते समय प्राय: भक्त लोग उपस्थित रहते थे, इसलिये उनसे बात करने का सुयोग नहीं मिलता था। लेकिन एक दिन माँ को प्रणाम करते समय उन्होंने अपना हाथ मेरे सिर पर रखकर आशीर्वाद दिया था और उससे मैंने स्वयं को बहुत कृतार्थ महसूस किया। एक अन्य दिन उनसे साधना के विषय में कुछ पूछने पर उन्होंने केवल इतना ही कहा – "स्मरण रखना।" उनके ये दो शब्द सुनकर मुझे लगा कि उन्होंने मुझे स्वयं को ही स्मरण रखने को कहा है। मैं समझ गया साक्षात् जगदम्बा ने ही कृपा करके मेरे समक्ष अपना स्वरूप प्रगट किया है।

एक अन्य दिन उद्बोधन में, मैं माँ को प्रणाम करके उनके चरणों में बैठा था। उस समय वे खाट पर पैर लटकाये बैठी थीं। तभी वे सहसा अपने कमरे में ठाकुर के उस चित्र – जिसकी वे प्रतिदिन पूजा करती थीं – को और दीवार पर टँगी माँ-काली के चित्र को दिखाकर वे बोलीं, "ये (ठाकुर) और ये (माँ-काली) एक हैं।" 'एक' शब्द का उच्चारण करते समय उनके शरीर में कम्प हुआ और उनका सारा शरीर बिल्कुल सख्त हो उठा। उस समय उनका शरीर थोड़ा झुका हुए था। वे उसी प्रकार अपलक नेत्रों से माँ-काली के चित्र की ओर देखती रहीं। काफी देर के बाद उनका शरीर फिर से ढीला होकर स्वाभाविक अवस्था में आ गया। मैंने अवाक् होकर माँ की इस समाधि-मूर्ति का दर्शन किया। लगा कि यह समाधि उनके लिये कितना सहज है ! मैं समझ गया कि उन्होंने मुख से जो कुछ कहा – उसी सत्य की उन्होंने तत्काल अनुभूति कर ली थी।[१]

एक दिन मैंने स्वामी प्रेमानन्द को कहते सुना था – "ठाकुर में सर्वदा भाव तथा महाभाव का अद्‌भुत प्रकाश देखकर हम लोग धन्य हुए हैं। माँ में भी सदा वही भाव तथा महाभाव विराजता है। पर यह कैसी महाशक्ति है कि उसी भाव और महाभाव को वे सर्वदा छिपाकर रखती हैं, बाहर उसकी ज्यादा अभिव्यक्ति नहीं होने देतीं !" प्रेमानन्दजी की इस उक्ति की सत्यता को मैंने उसी दिन स्वयं अनुभव किया था।*

१. माँ ने भगिनी निवेदिता से कहा था – "श्रीरामकृष्ण काली के अवतार हैं।" (द्रष्टव्य – बँगला 'निवेदिता-लोकमाता', शंकरी प्रसाद बसु, आनन्द पब्लिसर्स प्रा. लि. प्रथम खण्ड, प्रथम सं. १९६८ पृ. १८४-८५) प्रसंगवश यहाँ उल्लेखनीय है कि श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के बाद माँ उन्हें "माँ-काली" के रूप में सम्बोधित करके रोयी थीं। जैसे उन्होंने श्रीरामकृष्ण और माँ-काली के अभेदत्व की घोषणा की है, वैसे ही उन्होंने स्वयं के साथ भी काली के अभेदत्व को स्वीकार किया है। दृष्टान्त-स्वरूप श्रीरामकृष्ण के भतीजे शिवराम के सामने माँ के स्वरूप-स्वीकार की घटना स्मरणीय है। इसी प्रसंग में ब्रह्मचारी अक्षय-चैतन्य द्वारा लिखित 'श्रीश्री सारदा देवी' ग्रन्थ में निशिकान्त मजुमदार एवं सुरेन्द्र द्वारा उल्लेखित दो घटनायें उल्लेखनीय हैं। (द्र: १०वाँ संस्करण, पृ. ११७ तथा १२२)। माँ के ही मुँह से सुना गया है डकैत-पिता ने कहा था कि तेलो-मेलो के मैदान में उन्होंने माँ के भीतर माँ-काली का दर्शन किया था। माँ के अन्यतम सेवक स्वामी गौरीश्वरानन्द ने अपने १२ जून १९८४ के पत्र में स्वामी पूर्णात्मानन्द को लिखा था – "(माँ के स्वरूप के बारे में) मैं एक गोपनीय बात जानता हूँ। एक व्यक्ति को उन्होंने (माँ) अपना बीजमंत्र 'ह्रीं' नहीं 'क्रीं' कहा था। अर्थात् दुर्गा का नहीं, बल्कि काली का बीजमंत्र दिया था। जैसे उन्होंने पूजनीय शिबू-दादा के सामने काली होना स्वीकार किया था, वैसे ही एक व्यक्ति के सामने भी यह स्वीकार किया था।"

* उद्बोधन, वर्ष ९६, संख्या ५, ज्येष्ठ १४०१, पृ. २४५

माँ सारदा का वात्सल्य

स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरि

(श्री सारदादेवी की सार्ध-शताब्दी के अवसर पर २००५ ई. में कनखल के रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम द्वारा आयोजित विशेष कार्यक्रम में भारतमाता मन्दिर, हरिद्वार के अध्यक्ष तथा महामंडलेश्वर स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरि का सम्बोधन, जिसे टेप से लिपिबद्ध किया गया है।)

जिन माँ सारदा की वन्दना के लिये हम लोग यहाँ एकत्र हुये हैं, उनकी वन्दना हमने भलीभाँति – हृदय से की है और वह वन्दना हम सबके जीवन में निश्चित रूप से आत्मसात् होगी तथा हमारे जीवन में अधिकाधिक पवित्रता आयेगी। आज हम सभी लोग यहाँ माँ-जगद्धात्री का बड़ा सुन्दर दिव्य दर्शन कर रहे हैं। उनका पूजन हुआ है।

यह ऐसा पावन स्थान है, जहाँ प्रतिदिन लोगों की सेवा होती है। मुझे ऐसा लगता है कि जहाँ सेवा होती है, वह स्थान अपने आप में तीर्थ हो जाता है। हरिद्वार अपने आप में तीर्थ है, सप्तपुरियों में भी उसका नाम है, लेकिन मुझे लगता है कि यह क्षेत्र, जहाँ रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम है, यह मानो तीर्थ के भीतर एक नया तीर्थ है, जिसे हम सेवा-तीर्थ कह सकते हैं, जहाँ सब लोगों की सेवा होती है। जब कोई किसी को अपने औषधालय, चिकित्सालय में नहीं रखता, जब रात्रि के निशीथ बेला में कोई निराश्रित व्यक्ति, खोजता-खोजता, यहाँ के चिकित्सालय में आता है, तो उसे शरण मिल जाती है, उसे आश्वासन मिलता है, उसे प्रीति मिलती है, उसके भीतर पुन: जीवन जीने के लिये अभिलाषा जागृत हो जाती है। ऐसे पावन तीर्थ से जब मुझे निमंत्रण मिलता है, तब मुझे ऐसा लगता है कि मैं तीर्थ-यात्रा करने जा रहा हूँ। आज इसी दृष्टि से मैं यहाँ आया हूँ।

यदि माँ संसार में न आयी होती, तो किसी को संसार में वात्सल्य का रस ही कहाँ मिल पाता ! सारे रस होते, लेकिन वात्सल्य नहीं मिलता। संसार में जिस व्यक्ति को अपने जीवन में माँ का वात्सल्य, उसका प्रेम, उसका मृदुल स्पर्श नहीं मिला है, उसके वरदायी कर-कमल जिसके शीश पर न फिरे हों, वह जीवन को अधूरा और अपूर्ण मानता है। यदि ऐसा न होता तो भगवान भी क्यों आते? उनको भी कौशल्या की गोद बहुत प्रिय लग रही थी। भगवान श्रीकृष्ण क्यों आते? ब्रह्म को भी यशोदा की गोद में बैठकर वात्सल्य प्राप्त करने की इच्छा होती है। ब्रह्म भले ही ठाकुर का अवतार लेकर आये हैं, पर यदि उन्होंने माँ सारदामणि की पूजा न की होती, तो शायद वे ठाकुर न बन पाते। इसलिये ऐसा लगता है कि सबको माँ की कृपा चाहिये।

यदि ध्यानपूर्वक देखें, तो जीवन में सबसे पहला शब्द जो मुँह से निकलता है, उस बालक के रुदन में भी 'माँ' की ही पुकार होती है। वह आह्वान करता है। जीव संसार में बड़ा असुरक्षित आता है, लेकिन सुरक्षा की आकांक्षा उसके मन में पहले दिन से ही जागती है। वह सुरक्षा कौन प्रदान करता है? माँ प्रदान करती है। पुत्र में दोष आ जाते हैं ! कितनी न्यूनताएँ होती है ! कितने आन्तरिक अभावों से हम जकड़े होते हैं। उनको केवल माँ जानती है। इसलिये फिर अन्त में हम बहुत प्रणत होकर माँ से यही तो कहते हैं – **कुपुत्रो जायेत् क्वचिदपि कुमाता न भवति** – पुत्र कुपुत्र हो सकता है, लेकिन माँ कभी कुमाता नहीं होती।

मुझे तो माँ सारदामणि के इस १५० वें वर्षगाँठ के पावन उत्सव में सम्मिलित होते समय, जो चीज सबसे अधिक हृदयस्पर्शी दिखाई देती है, शायद संसार में वैसा दृश्य कभी उपस्थित नहीं हुआ। वह अपने आप में पहला और एकमात्र उदाहरण है। कोई परिणीता सहधर्मिणी हो और जब वह मातृगृह का परित्याग करके, अपने श्वसुर के यहाँ, अपने पति के साथ जाती है, तो स्वाभाविक रूप से, निश्चित रूप से उसकी कोई महत्त्वाकांक्षा, उसके मनोराज्य के भीतर कोई ऐसी प्रिय भावना जागती ही होगी। विवाह के बाद संसारियों की न जाने कितनी आकांक्षाएँ जागती रहती हैं। जहाँ लौकिक सुख प्राप्त करने के लिये बहुत दिन के संजोये हुए भाव मानो एकदम जाग्रत होते हैं। कैसा कठिन दिन है ! परन्तु ठाकुर और माँ के त्याग का दृश्य स्मरण करता हूँ, तो श्रद्धा से ठाकुर और माँ के चरणों में शीश झुक जाता है।

एक बार मध्यरात्रि में रामकृष्णदेव अपने कमरे में टहल रहे हैं। उनके चेहरे पर कुछ उद्विग्नता दिखाई पड़ रही है। अभी तो माँ आई हैं। माँ सारदामणि ने पूछा – "आज बहुत उद्विग्न दिखाई दे रहे हो।" उन्हें अपने जीवन में कभी इतने बड़े अन्तर्द्वन्द्व का अनुभव नहीं हुआ। एक ओर लग रहा है कि परिणीता पत्नी का अधिकार और दूसरी ओर जीवन में सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये सबमें केवल माँ का दर्शन करने का चिन्तन। इन दोनों में टकराहट हो रही थी । – "मैं अन्तर्द्वन्द्व से बहुत पीड़ित हो रहा हूँ। तुम्हारा जो अधिकार है, यदि तुम मुझसे माँगो, तो उस अधिकार की पूर्ति में मैं अपने नियम, अपने सिद्धान्त अपने पूर्ण संकल्प से विचलित हो जाऊँगा। इसकी पीड़ा भी मुझे सारे जीवन शल्य जैसी चुभती रहेगी।" तब माँ ने कहा – "अरे ! इतनी छोटी बात के लिये आप इतने उद्विग्न हैं। मैं आपको आपके पथ से विचलित करने नहीं आयी हूँ, बल्कि सहायता करूँगी। यदि

आप एक दिन ब्रह्मचर्य का पालन करने का संकल्प करते हैं, तो मैं बारह जन्मों के लिये संकल्प करती हूँ मैं आपके नियम को नहीं तोड़ूँगी।'' बाद में ठाकुर ने माँ को काली मानकर उनकी पूजा की, उपासना की। विश्व में कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता। यह केवल एक उदाहरण है।

मुझे तो ऐसा लगता है कि माँ सारदामणि केवल मणि की भाँति हैं, शिरोमणि हैं और सारे संसार को एक अद्‍भुत आदर्श और सन्देश दे गयी हैं, जो त्रिकाल-अबाधित सत्य है। संसार में कोई भी जब-जब इस दिव्य चरित्र को पढ़ेगा, जब-जब इस पर चिन्तन करेगा, तब-तब इससे उसके जीवन की कलुषता मिट जायेगी और उसमें पवित्रता एवं दिव्यता का भाव जाग्रत होगा। कामना-ग्रस्त लोगों को तो विश्वास ही नहीं होगा – केवल लौकिक जगत् के सुखों को ही सबसे बड़ा उद्देश्य माननेवाले पाश्चात्य चिन्तकों को तो इस घटना पर विश्वास ही नहीं होगा। लेकिन यह देश, हर बार, सदियों के बाद किसी को जन्मता है, किसी को अवतरित करता है, किसी को प्रगट करता है, किसी को प्रादुर्भूत करता है, जिनकी पवित्र लीला से, जिन महान् पुरुष या महीयसी नारी के पुण्य कार्य से, उनके पावन चरित्र से समस्त कलुष धुल जाते हैं।

सम्पूर्ण नारी-समाज पर यदि कभी लोगों ने विभिन्न प्रकार से दोष मढ़कर उन्हें कलंकित करने का प्रयत्न किया भी हो, तो मुझे ऐसा लगता है कि माँ सारदामणि का अवतरण मानो संसार की महिलाओं के कलंक को धोने के लिये नयी गंगा के रूप में हुआ था। ऐसी गंगा-स्वरूपा पतित-पावनी माँ सारदामणि के चरणों में मैं प्रणाम करता हूँ।

उन्होंने जगद्धात्री की पूजा की थी। सारे संसार में एक धात्री होती है, एक विधात्री होती है और एक जगद्धात्री होती है, जिसने हम सबको धारण किया, वह हमारी धात्री माँ है। कोई आकाश में से नहीं आता। माँ के उदर में सबको रहना पड़ता है। उस समय उसका स्वरूप वास्तव में धात्री का ही होता है। कई बार चिकित्सक उससे कहते हैं कि यदि तुम यह वस्तु खाओगी, तो तुम्हारे उदरस्थ बालक पर उसका प्रभाव पड़ेगा। तब माँ अपने सुख का बलिदान करती है, निद्रा का बलिदान करती है, अपनी इच्छाओं का बलिदान करती है। फिर धात्री-स्वरूपा माँ हमें जन्म देती है और उसके बाद हमारा निर्माण करती है – **माता निर्माता भवति**। उस समय वह विधात्री बनती है। पहले धात्री, फिर हमारे जीवन का विधान करती है, वात्सल्यपूर्वक संस्कार डालती है और कभी-कभी हमारे उद्दण्ड जीवन को देखकर साधारण रुद्र रूप धारण करके हमें पवित्र संस्कारों की ओर ले जाने का प्रयत्न करती है, तब वह हमारी विधात्री होती है।

वही माँ हमें सन्देश देती है – जब तेरे पास धात्री न हो और तेरे पास विधात्री न हो, तो अपनी दृष्टि को विकसित करो। हमें सारे संसार में केवल उन जगद्धात्री माँ का दर्शन करते हुए, उनसे अपने चरित्र का, अपने जीवन का, अपने आचरण का संयम करने का सन्देश लेना होगा। आज हमने उन्हीं जगद्धात्री माँ की पूजा की है, जिनकी पूजा माँ सारदामणि करती थीं।

उनके जीवन में वात्सल्य भरा था। कुछ लोग जीवन में प्रयत्न करते हैं कि अच्छे आचरण के द्वारा स्वर्ग मिले। पर कुछ लोग संसार में आते हैं, तो जहाँ बैठते हैं, वहीं स्वर्ग का निर्माण हो जाता है। **सदा प्रसन्नम् मुख-मिष्ट-वाणी सुशीलता च स्वजनेषु सख्यम्** – वे लोग जहाँ कहीं जाते हैं, वहाँ प्रसन्नता छा जाती है। शास्त्रों ने उनके चिह्न बताये हैं – **चिह्नानि देहे...**। **सदा प्रसन्नम्** – जो व्यक्ति सदा प्रसन्न रहता है। प्रसन्नता के क्षणों में हमें प्रसन्नता की प्राप्ति तो ठीक है, लेकिन प्रतिकूलता के क्षणों में भी प्रसन्नता, मन:शान्ति का अपहरण करनेवाली कोई भी परिस्थिति उसको प्रभावित न कर पाये, ऐसे लोग बिरले ही होते हैं।

मुझे कई बार माँ का जीवन-चरित्र को पढ़ने का अवसर मिला है और जब मैं उसे पढ़ता हूँ, तो दिखता है कि उनके जीवन में कहीं अप्रसन्नता दिखाई ही नहीं पड़ती है। **प्रसन्नता सारे जीवन का सबसे बड़ा गुण है और जो प्रसन्न रहता है, वही वास्तव में प्रसाद बाँटता है।** जो लोग प्रसन्न नहीं रहते, भले ही वे व्यक्तिगत रूप से प्रसन्न नहीं रहते हों, लेकिन वे सामाजिक क्षति करते हैं और वह सामाजिक क्षति यह है कि वे प्रसाद नहीं बाँटते, वे अवसाद बाँटते हैं। संसार में तो ऐसे ही अवसाद की कमी नहीं है, उसमें सहयोगी बनने का प्रयत्न कोई क्यों करे? करना भी नहीं चाहिये। माँ के जीवन में प्रसन्नता है – **सदा प्रसन्नं मुख मिष्टवाणी**। उनके पूरे जीवन में कहीं दिखाई नहीं पड़ता कि कहीं उन्होंने कटु शब्द का

पुरखों की थाती

देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थाणां षट्कर्माणि दिने दिने ।।

– ये छह कर्म गृहस्थों के लिये प्रतिदिन करने योग्य बताये गये हैं – देवपूजा, गुरु की उपासना, शास्त्र-पाठ, संयम, तप और दान।

दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोषं न निर्गुणम्।
आवृणुध्वम्-अतो दोषान् विवृमुध्वं गुणान् बुधाः।।

– इस जग में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो पूर्णत: दोषरहित या पूर्णत: गुणरहित हो; अतः ज्ञानी, लोगों के दोषों को ढँककर गुणों को ही प्रकट करते हैं।

प्रयोग किया हो। जैसा अभी आपने मेरे पूर्ववक्ता विद्वान् स्वामी शिवमयानन्दजी महाराज से सुना कि मृदुता कई बार कटुता को समाप्त कर देती है। इसलिये मृदुता संसार का बहुत बड़ा गुण है – **सदा प्रसन्नम् मुख-मिष्ट-वाणी सुशीलता च स्वजनेषु सख्यम्**।

साधु सारे संसार को अपना स्वजन मानता है। कभी सारदा माता परायी लगें, ऐसा दिखाई नहीं पड़ता। वे सबको अनन्य मानकर, सबको अपनी शरण, अपना मार्गदर्शन, अपनी ममता, अपनी उदारता, अपनी शालीनता का सन्देश देनेवाली, ऐसी माँ हैं।

मुझे तो ऐसा लगता है कि उनका सन्देश, उनका स्वरूप और उनका दर्शन – ये सदा आदर्श हैं। जब सारा संसार केवल दैहिक सुखों को ही सत्य मानकर, विज्ञापनों पर विश्वास करने लगा है, तो ऐसे विज्ञापनों से भरे हुये सारे समाजिक जीवन के भीतर उनके चरित्र का बारम्बार प्रकाशन, लोगों को मर्यादा में रहने का सन्देश देता है। उनके पवित्र दर्शन से लोग संयम का सन्देश ले सकेंगे।

मैं तो कई बार कहता हूँ कि अपना देश यमराज से नहीं डरता। क्यों नहीं डरता था? इसलिये कि व्यक्ति के पास दो वस्तुएँ होती थीं – एक यम और दूसरा नियम। जिसके पास यम और नियम होता था, उसके द्वार पर यदि यमराज भी आ जाय, तो वह गरजकर कहता था – "भाग जाओ, तुम अकेले हो, मेरे पास तो दो यम है। एक संयम और दूसरा नियम। तुम मेरा क्या बिगाड़ लोगे?"

परन्तु कठिनाई की यह है कि वर्तमान काल में, पिछले पचास वर्षों में बहुत उन्नति हुई। इसको नकारा नहीं जा सकता है, लेकिन सुविधाएँ जैसे-जैसे बढ़ती हैं – क्षमा कीजियेगा, हमारे अपने व्यक्तिगत जीवन का भी अनुभव है, – तपश्चर्या का भाव कुछ कम हो जाता है। इसलिये **सुविधा बढ़े, तो उसके साथ-साथ तपस्या, संयम और साधना भी बढ़नी चाहिये, सेवा भी बढ़नी चाहिये**। माँ का जीवन संयम, सेवा, सदाचार – यही सब कुछ प्रकट करनेवाला है। माँ का सहज स्वभाव था – अपना पूरा जीवन देकर सब लोगों के सुख की चिन्ता करना। सबके भोजन करने के बाद, जो थोड़ा-सा अवशिष्ट बचा उसे ग्रहण करना, भले ही लौकिक दृष्टि से उससे क्षुधा शान्त न हो।

प्रवासी जीवन और संन्यासी जीवन होने के कारण किसी माता को ऐसा करते हुए देखकर मैंने कहा – आपने इतने लोगों को खिलाया, पर आपके लिये तो कुछ बचा ही नहीं। वह माँ बोली – सब लोगों ने भोजन किया, सब संतृप्त हुए, उनकी तृप्ति का दर्शन करके मैं भी तृप्त हो गयी। मुझे तो भोजन करने की इच्छा ही नहीं है। माँ सारदामणि अपने दर्शन से, अपने संयम से, अपने उपदेश से, अपने पवित्र जीवन की रहनी और करनी से सारे संसार की क्षुधा को शान्त करती थीं। ऐसी माँ सारदामणि के १५० वें वर्ष के उपलक्ष्य में जगद्धात्री माँ की पूजा के साथ हम उनके पवित्र जीवन का स्मरण कर रहे हैं। **स्वजनेषु सख्यम्** – आजकल सारे संसार में सखा-भाव का बड़ा अभाव हो गया है।

परमात्मा को प्राप्त करना हो, तो अनेक मार्ग हो सकते हैं, और हैं भी। वे सभी सत्य हैं, क्योंकि रामकृष्णदेव ने किसी भी उपासना के मार्ग की निन्दा नहीं की। वे यही कहते थे कि जितने भी मार्ग जानते हो, सभी अन्त में वहीं एक ही स्थान पर जाकर जुड़ जाते हैं, एकस्थ हो जाते हैं। इसलिए उन्होंने साधना के किसी भी मार्ग को बुरा नहीं बताया, छोटा नहीं बताया। माँ उनकी निरन्तर सहयोगिनी रहीं। उन्होंने उनके सन्देश को, उनके जीवन का आदेश मानकर उसे पालन करने का प्रयत्न किया। स्वामी विवेकानन्द जैसे समर्थ संन्यासी का जीवन जिनके चरणों में अर्पित रहा और जिनके आशीर्वाद से वे विश्व-विश्रुत हुये, जिनके स्वर ऐसी माँ सारदामणि की वन्दना से मुखरित हों और वे निश्चित रूप से पूर्ण होंगे। उन्हें सारे संसार में सत्य-भाव का ही दर्शन होता था। उनके लिये कोई व्यक्ति पराया था ही नहीं और श्रीमद्-भगवद्-गीता मानो माँ के जीवन में उतरी थी – **सुहृदं सर्व-भूतानाम् ज्ञात्वां मां शान्तिम् ऋच्छति** – व्यक्ति समस्त प्राणियों को अपना मित्र समझकर मुझमें शान्ति-लाभ करता है।

विश्व का कोई ऐसा व्यक्ति नहीं, जिसे शान्ति की इच्छा न हो, पर उस शान्ति को प्राप्त करने का एक और सरल मार्ग है। अपनी-अपनी पूजा-पद्धति और उपासना तो है ही, जप-तप, साधना, योग-प्रणायाम तो है ही। परन्तु सारे संसार में सत्य-भाव का विस्तार करते हुये, सबके भीतर भगवान का दर्शन करने की चेष्टा हो, तो यह सारा संसार जो अशान्त हो रहा है, जो त्रास में है, जो कई तरह के आतंकवाद से पीड़ित है, जो कठिनाई में जी रहा है; मुझे लगता है कि आज इन सारी बुराइयों को दूर करने हेतु मातृ-उपासना प्रारम्भ हो, जगद्धात्री माँ की पूजा हो, तो हम सारे संसार को उनका ही अंश मान करके किसी का अपमान नहीं करेंगे, किसी को पीड़ित नहीं करेंगे।

मातृ-वन्दन में बहुत-कुछ कहा जा सकता है। सारे जीवन भर यदि कोई कुछ भी कहता रहे, तो वह भी अपूर्ण होगा। मैं तो यहाँ उनके चरणों में श्रद्धांजलि अर्पित करने, तीर्थ के बीच इस तीर्थ में, मन में सेवा का संकल्प और बढ़े इसलिये, यहाँ आकर अपने को कृतार्थ अनुभव कर रहा हूँ। सारदा माता की जय, जगद्धात्री माता की जय, श्रीरामकृष्ण देव की जय, भारत माता की जय। ❑❑❑

दैवी सम्पदाएँ (२६) नातिमानिता

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

❖ (गतांक से आगे) ❖

(ख) असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा – 'दुर्गा-सप्तशती' में दो सुन्दर उदाहरण हैं – एक है राजा सुरथ का और दूसरा है समाधि नामक वैश्य का। दोनों ही अपने परिवार व वैभव से विमुक्त होकर वन में भटक रहे हैं। प्रथम को शत्रुओं ने आक्रमण कर राज्य से निर्वासित किया है, तो दूसरे को धन-सम्पत्ति के लोभ से पत्नी तथा पुत्रों ने ही घर से निकाल दिया है, तो भी दोनों ही अपनी प्रजा तथा कुटुम्ब के प्रति आसक्ति-स्नेह के कारण उनके कुशल-क्षेम के लिये चिन्तित और दु:खी हैं, क्योंकि प्रजा तथा परिवार के प्रति उनका राग अभी तक उतना ही है। हम संसार में कभी आत्मीय जनों से ही, कभी अन्यों से, अगणित अपमान, दु:ख एवं त्रास झेलते हैं, तथापि हमारी आसक्ति बनी रहती है और बार-बार यातना भँवर में फँसते रहते हैं, तैर कर बाहर निकलने का साहस नहीं जुटता, विवेक का सूर्य उदित नहीं होता और राग की शृंखलाएँ नहीं टूटतीं। अर्जुन को यही रोग था, इसीलिये शत्रुवत् व्यवहार करनेवाले अत्याचारी स्वजन स्वजन ही दिखते थे। वे उनके कुशल-क्षेम हेतु दु:खी थे, उनके सुख के लिये स्वयं भीख माँग कर खा लेना और मर जाना भी श्रेयस्कर मान रहे थे। यह राग, अर्थात् ममत्व का ही जादू था, जो उनके सिर पर चढ़कर बोल रहा था।

राग का आधार ममता है। जो मेरा है, मेरे पास है, किसी अन्य का नहीं है, अन्य के पास नहीं है, तो मेरे समान कौन है? मैं ही तो उसका भोक्ता हूँ, वे मेरी ही तो उपलब्धियाँ हैं, मैं ही उनका कर्ता हूँ। अत: मान, सम्मान और पुरस्कार का अधिकारी मेरे सिवा कोई अन्य नहीं है, वह मुझे मिलना ही चाहिये। मान का यह वृक्ष, अहंकार का यह अश्वत्थ तभी कट सकता है, जब असंग का शस्त्र हो, वैराग्य का मजबूत हथियार हो। इस विशाल और अद्‌भुत वृक्ष की शाखाएँ ऊपर-नीचे फैली हैं, त्रिगुणों से बढ़ी हुई विषय-कोपलें अंकुरित हैं और पुण्य-पापमय कर्मों के बन्धनों से जकड़नेवाली जड़ें गहरी हैं। ऐसा वृक्ष वास्तव में नहीं होता, यह विशाल-बुद्धि व्यास का बाँधा हुआ रूपक है, जो हमारे मन:प्रसूत, मृगतृष्णा, विभ्रम और जाग्रत-स्वप्न जैसे सत्य दिखनेवाले इस जगत् के लिये दिया गया है। इस मन:कल्पित वृक्ष की शीतल छाया में बैठकर अतृप्ति, नित्य-सुख की लालसा से हम इसे छोड़ना नहीं चाहते। राग के इस वृक्ष को असंग के शस्त्र से काटना होगा; अन्यथा मान, मोह एवं सुख-दु:खात्मक द्वन्द्वों से मुक्ति असम्भव है। (१५/२-५)

असंग या वैराग्य अपरिग्रह और त्याग है। यह निषेधात्मक तथा मात्र बाह्याचार नहीं है, न कर्मत्याग का मिथ्या उपदेश। परिग्रह की भावना, गृहीत वस्तुओं के प्रति ममत्व, उनसे सुख की आकांक्षा या आनन्दानुभूति का त्याग ही वैराग्य है। विषयों से असंगता, कामनाओं का त्याग, अनासक्ति तथा अलिप्तता ही सच्चा वैराग्य है। ईश्वर असंग भाव से प्राणियों में निवास करते हैं (९.५)। यही भाव ब्राह्मीभाव प्राप्त करा सकता है।

(ग) कर्मयोगेन योक्तव्यम् – योग से योग को जोड़ो – अर्थात् कर्म को योग के साथ जोड़ दो। तब कर्म कर्म नहीं रहता वह कर्मयोग बन जाता है। अहंकार से छुटकारा पाने के लिये कर्मयोग आवश्यक है। कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। इस संसार में सारी सिद्धियाँ कर्म से ही मिलती हैं। कर्मों के सम्पादन से किसी प्रकार का भव-बन्धन प्राप्त नहीं होता। यदि हमारा चित्त शुद्ध है, उसमें आसक्ति नहीं है और कर्मों का उद्देश्य लोकसंग्रह-लोकमर्यादा है तथा वे लोकार्पित हैं, तो उनसे बन्धन नहीं होता। जिसने अपनी एषणाओं को छोड़ दिया है, भोग्य-वस्तुओं को तिलांजलि दे दी है, अपने आप पर नियंत्रण कर लिया है, जो जितेन्द्रिय, समबुद्धि और समभाव है; वह कर्म करता हुआ भी पाप को प्राप्त नहीं होता। ब्रह्मरूप कर्म में जो समाधिस्थ है, जिसने साधन-साध्य-साधना सभी को ब्रह्ममय मान लिया है और अपने सारे कर्मों को भगवदर्पित-लोकार्पित कर दिया है, वह तो कमल के समान कभी कर्म-कर्दम से लिप्त नहीं होता। भगवान ने अर्जुन से कहा था – "तुम जो कुछ करते, खाते, हवन करते और तप करते हो, उसे तुम मुझे अर्पित करो।" (९/२७) जब सारे कर्म परमात्मा को अर्पित हो गये, उनके फल के प्रति आसक्ति नहीं रही, समभाव की स्थिति आ गई और परमात्मा को कर्ता-भोक्ता मान लिया, तब अहंकार के बीज का ही भुर्जन हो गया, उसका अंकुरण नहीं होता।

गीता में योग का आशय कर्म है। कर्मों की कुशलता योग है – **योग: कर्मसु कौशलम्**। (२/५०) सिद्धि-असिद्धि में समान-स्थिति, निर्विकार-चित्तता, समत्व भी योग है – **समत्वं योग उच्यते**। इस समत्व-योग में स्थित होकर, आसक्ति त्यागकर कुशलता के साथ ईश्वरार्पित कर्म करना कर्मयोग है। कर्मयोगी – तपस्वी और ज्ञानी से भी श्रेष्ठ है।

अत: श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्मयोगी बनने का निर्देश देते हैं। कर्मयोगी सच्चा संन्यासी है, क्योंकि वह कर्मों का नहीं, वरन् कामनाओं और आसक्ति का त्याग करता है। इससे कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अहं की उत्पत्ति नहीं होती। कर्मयोग में ममता का मल जल जाता है और अहंकार नष्ट हो जाता है।[२२]

(घ) योगो भवति दु:खहा – जीव को जितना भी दु:ख है, वह सब अहंकार के कारण है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, घृणा, वैमनस्य, परिग्रह, दर्प, अहंकार, अतिमान आदि वृत्तियों ने मन को आक्रान्त कर लिया है और वह तदाकार हो गया है। विषयों के अनुचिन्तन से मन विषयाकार होता है और विषयाकारिता के कारण सांसारिक विषयों के उपभोग से तृप्ति चाहता है, पर उससे उसे सच्ची तृप्ति नहीं मिलती, वह अतृप्त रहता है, वह अन्यान्य विषयों की ओर दौड़ता है, वहाँ भी उसे सुख की आकांक्षा बनी रहती है और दौड़ते रहना उसकी नियति हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप उसे दु:ख मिलता है। इस नियति को बदलना, चित्त की इन्हीं वृत्तियों को निरुद्ध करने की प्रक्रिया योग है और यह योग दु:ख को नष्ट करनेवाला है। योग की साधना हथेली पर सरसों उगाना नहीं है। यह शनैः शनैः चलने वाली दीर्घकालीन सतत प्रक्रिया है। इसके लिये दीर्घकालिक अभ्यास की जरूरत है। अनेक जन्मों की साधना का फल है। अभ्यास और वैराग्य से मन वश में होता है। (६.३५) जो इसे वश में नहीं कर सकता, उसके लिये योग कठिन है। योगी के लिये मिट्टी का ढेला और सोना एक समान है। (६.८) वह नि:स्पृही और आत्मतुष्ट होता है। वह स्वयं को स्वयं से स्वयं में देखता है और सन्तुष्ट होता है। यह योग दु:ख के संयोग का वियोग होने से निषेधपरक और आत्मा को परमात्मा से मिला देने से विधिपरक है। (६.२३) आसक्ति और ममत्व में डूबे मन को सहसा निरासक्त एवं निर्मम नहीं बनाया जा सकता। विषयाकार मन को धीरे-धीरे ही विषयों से निकाला जा सकता है। इस अभ्यास योग से ही असाध्य रोग की चिकित्सा सम्भव है। अहंकार का नियंत्रण साध्य है।

(ङ) न मे भक्त: प्रणश्यति – भक्ति के अमृत का पान करनेवाला कभी नष्ट नहीं होता। देहाभिमान से संसार की ओर प्रवाहित होने वाली आसक्ति की धारा को यदि परम प्रभु परमात्मा की ओर मोड़ दिया जाय, तो वही आसक्ति जो अत्यन्त निन्दनीय होने से त्याज्य है, परम आदरणीय बनकर सह्य हो जाती है। परमात्मा-परक आसक्ति या अनुरक्ति ही भक्ति है। संसार-परक स्वकेन्द्रित आसक्ति से मान, अहंकार आदि दोष उत्पन्न होते हैं, उससे द्वैत और प्राप्ति की कामना होती है, जबकि ईश्वरपरक आसक्ति से विनम्रता, सेवाभाविता, अद्वैतानुभूति, समभाव, निरंहकारिता और निरतिमानिता जैसी महनीय सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। जहाँ भक्ति है, वहाँ ज्ञान और वैराग्य अनुपयोगी हैं। उसके सामने ये दोनों जर्जरित और असहाय हैं। उसके पुत्र हैं। उसके स्तन्य से पोषित हैं।[२३] हृदय में भक्ति के उदय होने पर ज्ञान और वैराग्य का आविर्भाव स्वत: होता है। सांसारिक विषयों की अनित्यता एवं नि:सारता के बोध के साथ उनके प्रति अनासक्ति की भावना स्वयमेव प्रस्फुटित होती है।

ज्ञान का मार्ग कृपाण की धार है – **ग्यान कै पन्थ कृपान कै धारा**। इस पर चलना बड़ा कठिन है, फिर इस में बाधाएँ भी बहुत हैं – **ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका**। ज्ञानोपासना शून्योपासना नहीं है। निराकार, मन का विषय – आधार नहीं बन सकता। मन को आधार चाहिये, आधार तो ईश्वर का साकार रूप ही बन सकता है – **साधन कठिन न मन कहुँ टेका**। वैराग्य की साधना तो मानव-स्वभाव के विपरीत जाना है। महानदी की धारा को रोकना कठिन भी है और अकारण आपदाओं को आमंत्रित करना है। भक्तिधारा को दिशा देना है। वह विधेयात्मक है। माधुर्यमयी तथा रसमयी है। इसमें प्रेम, वात्सल्य, स्नेह एवं तत्सुख-सुखित्व की भाव-धारायें प्रवाहित हैं। "अनुराग भक्ति की बुनियाद है, अहैतुकता उसका प्राण-आत्मा है। समर्पण उसका स्वरूप। एकनिष्ठता उसकी पुष्टि या पूर्णता है।"[२४] हमारा मन जो बाहरी विषयों की ओर दौड़ता है, उसे भगवान में लगा दें, जागतिक नाते उन्हीं से मान ले, उनकी शरण लेकर बिल्ली के बच्चे की भाँति स्वयं को पूर्णत: उनके हाथों में सौंप दें, तो हमारा अभिमान छूट जायेगा और हमारी रक्षा का पूर्ण दायित्व वे सँभाल लेंगे, हम पर आँच भी नहीं आने की। माया या अविद्या भक्त का संस्पर्श नहीं कर पाती।[२५] उसे अहंकारादि मानस-रोग नहीं होते। स्वप्न में भी उसे दु:ख नहीं मिलता –

व्यापहिं मानस रोग न भारी।
जिन्ह के बस सब जीव दुखारी।।
रामभगति मनि उर बस जाके।
दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके।।

भक्त का मन भगवान में लगा रहता है, उसके सारे कर्म उन्हें समर्पित होते हैं, वह उन पर पूर्णत: आश्रित होता है, राग-द्वेष, आसक्ति, अनासक्ति एवं कामनाओं का ज्वार उसके मन में नहीं उठता, वह अपने को कर्त्ता-भोक्ता नहीं मानता, सांसारिक विषयों में उसकी बुद्धि नहीं रमती और

२२. गीता ६.२२, ६.८, ४.१२, ४.२१, ५.७, ४.२४, ५.४, ६.४६, १८.०२ आदि

२३. द्रष्टव्य – श्रीमद्-भागवत-माहात्म्य

२४. भागवत धर्म, हरिभाऊ उपाध्याय, पृ. ३०२

२५. माया छाया एक-सी, विरला जानै कोइ।
भगतां कै पीछे फिरै, सन्मुख भागै सोइ।। – कबीर

वैयक्तिक अहं सर्वथा विसर्जित होता है।[२६] वह एकीकृत व्यक्तित्व का धनी हो जाता है।

(च) शान्तिजल स्पर्शेन – तुलसी ने लिखा है कि इस अहंकार की अग्नि से जिसमें सारा संसार जल रहा है, वह शान्ति के जल से बच सकता है।[२७] यह शान्ति-जल क्या है? – ब्राह्मीभाव। यह भाव तब तक नहीं मिल सकता, जब तक जीव अहंकार बल, दर्प, क्रोध और परिग्रह को छोड़कर निर्मम-अनासक्त तथा शान्त नहीं हो जाता। ब्राह्मीभाव को प्राप्त मनुष्य सर्वथा प्रसन्न रहता है। वह न शोक करता है न अपेक्षा। वह सभी में समभाव रखता है। अतएव पराभक्ति को प्राप्त कर भगवान को तात्त्विक रूप से जान लेता है। (१८/५३-५५) इस ब्राह्मी स्थिति से मोह नष्ट हो जाता है।

(छ) प्रेमयोगो महायोगः – प्रेमयोग महायोग है। यह ढाई अक्षर का महामंत्र और महाग्रन्थ है, परन्तु इसे न कोई जपता है, न कोई पढ़ता है। संसार अन्य पोथियों को पढ़कर पण्डित होना चाहता है, पर उनके बल पर आज तक कोई पण्डित नहीं हुआ, किसी का मोह नहीं टूटा, अहंकार का नाश नहीं हुआ, भेद की दीवारें नहीं गिरीं, मृगतृष्णा का अन्त नहीं हुआ और अस्मिता तिरोहित नहीं हुई। प्राणियों को प्रति पल मृत्यु का ग्रास बनते देखकर भी चेतना नहीं आई, तो भी ढाई-अक्षर प्रेम का पाठ नहीं पढ़ा। जब इसे नहीं जिया, नहीं भोगा, तब पाण्डित्य कैसे मिलेगा? विश्व-बन्धुत्व का उदार भाव कैसे विकसित होगा? अहंकार क्यों मिटेगा? अहंकार और प्रेम के बीच छत्तीस का आँकड़ा है। एक दूसरे का विरोधी है, क्योंकि अहंकार में द्वित्व है, आदान, परिग्रह, स्वामित्व और मान का भाव है, जबकि प्रेम की गली अति सँकरी है। उसमें द्वित्व का समावेश नहीं हो सकता। प्रेम में त्याग और समर्पण है। अहंकार का विसर्जन है। मान का वर्जन है। निजत्व का त्याग है। इसमें मेरा और मेरे लिये की भावना नहीं होती। यहाँ तो सब 'तुम्हारा और तुम्हारे लिये' ही सर्वात्मना समर्पित है। इसमें निज सुख की कोई कल्पना नहीं होती, यहाँ पर-सुख से सुखी होने का भाव ही सर्वोपरि है। मदाकारिता की सम्पूर्ण वृत्तियाँ त्वदाकार हो जाती हैं। अहंकार में व्यक्ति केवल स्वयं को देखता है, दूसरे का अस्तित्व उसे स्वीकार नहीं होता, अन्य का मान, उत्कर्ष एवं हित सहन नहीं होता। उसे परमात्मा की अनुभूति नहीं होती। जहाँ अहंकार है, वहाँ परमात्मा नहीं होते और जहाँ परमात्मा हैं, वहाँ अहंकार नहीं ठहरता। जब तक अहंकार रहा, अर्जुन को भगवान के दर्शन नहीं हुए, वे उन्हें मनुष्य, सखा तथा सम्बन्धी मानते रहे; पर जब उन्हें भगवान ने प्रेम-चक्षु दिये, विश्वदृष्टि का उन्मेष किया, विराट् रूप की अनुभूति कराई और गीता सुनाया, तभी उसके अहंकार-कपोत उड़े। अहंकार के रहते प्रेम में पूर्णता नहीं आती। अहंकार अपने लिये और प्रेम सबके लिये जीता है। अहंकार छीनता है, प्रेम देता है। अहंकार संग्रह से तुष्ट होता है, प्रेम को दान से तृप्ति मिलती है। अहंकार तनकर खुश होता है, प्रेम नमनशील होकर तुष्ट होता है। अहंकार आगे होने में अपने को सफल मानता है। प्रेम सबसे पीछे होने में स्वयं को कृतकृत्य देखता है। प्रेम में सब कुछ करते हुये भी, कुछ न करने की वेदना रहती है और अहंकार केवल कुछ करने को ही सब कुछ करने के प्रदर्शन पर अकड़ता रहता है। अहंकार अन्धा होता है, प्रेम के विवेक-चक्षु सदा खुले रहते हैं। अहंकार सीमित होता है, प्रेम असीमित। अहंकार के सीमित 'स्व' को यदि विराट् विश्व तक फैला दिया जाय, शीर्ष को – अहंकार को – व्यष्टि प्रेम को उतार कर, कृत्रिम नाम-रूप को छोड़कर, पूरे जगत् से नाता जोड़ लिया जाय, सर्वोदय की, विश्व-हित की बृहती भावना से परिचालित होकर समर्पण एवं सेवा का व्रत धारण किया जाय, तो निश्चय ही अहंकार-वृक्ष का उन्मूलन हो जायेगा। प्रेम की सीमायें जितनी संकुचित होती हैं, अहंकार उतना ही उग्र और उग्रतर होगा। प्रेम में व्यष्टि-चेतना समष्टि चेतना में विलीन हो जाती है, वैयक्तिक सत्ता सामूहिक सत्ता में मिल जाती है, 'मैं' – 'तुम' में बदल जाता है और बूंद सागर में समा जाती है, अहंकार का अस्तित्व मिट जाता है, मान का भाव नहीं रहता और अपमान का भय मन को व्यग्र नहीं करता, अतिमान की आकांक्षा नहीं होती।

महर्षि व्यास ने काम, क्रोध, लोभ, मान, मोह तथा मद – छहों को मनुष्य के शत्रु कहकर इन्हें जीतने को कहा है –

अरयः षड्विजेतव्या नित्यं स्वं देहमाश्रिताः।
काम-क्रोधौ च लोभश्च मानमोहौ मदस्तथा ।।

(महा., अनुशासन., ९६.३०)

सन्त दूसरों को मान देते हैं, पर स्वयं मान नहीं चाहते – **सबहिं मानप्रद आप अमानी**। जो सन्त हैं, वे शिष्ट होते हैं और शिष्ट निश्चित रूप से ईर्ष्या तथा अहंकार से दूर होते हैं – **शिष्टाः खलु विमत्सराः निरहंकाराः**। (बोधायन धर्मसूत्र, १/११५) क्रोध ईर्ष्या, अहंकार और मत्सर से रहित शम-सम्पन्न व्यक्ति ही शिष्टाचारी होते हैं –

अक्रुध्यन्तोऽनसूयन्तो निरहंकारमत्सराः।
मानवाः शमसम्पन्नाः शिष्टाचारा भवन्ति ते ।।

(महाभारत, वनपर्व)

विदुरजी धृतराष्ट्र से बोले – "हे राजन्, आपका कल्याण

---

२६. गीता ९/३४ एवं १२/१३-२०

२७. अहंकार की अग्नि में दहत सकल संसार।
तुलसी बांचै सन्तजन केवल सांति अधार ।।
महाशान्ति जल परसि कै सान्त भय जन जोइ।
अहं अगिनि तें नहि दहै कोटि करै जो कोइ ।।
(वैराग्य-सन्दीपनी, ५३-५४)

हो। अत्यधिक अभिमान, अधिक बोलना, त्याग का अभाव, क्रोध, अपना ही पेट पालने की चिन्ता और मित्रद्रोह – ये छह तीखी तलवारें हैं, जो देहधारियों की आयु को काटती हैं। इन्हीं से अमृतपुत्र मनुष्य मरणधर्मा है, अन्यथा वह तो अमर है, मृत्यु उसे नहीं मार सकती।''[२८] जो अहंकार-शून्य है, वह तीर्थ रूप है।[२९] उतथ्य ने मान्धाता से कहा था कि दर्प सम्पत्ति का पुत्र है, जो अधर्म के अंश से पैदा होता है। इसने अनेक देवताओं, असुरों और राजर्षियों का विनाश कर डाला है। अत: हे भूपाल अब भी चेतो, जो दर्प को जीतता है वह राजा होता है और उससे पराजित होने वाला दास।[३०] यह देह को तपाने वाला है – **अहंकारः देहतापनः**।

अतिमान-अहंकार-दर्पादि आसुरी भाव मोह या अज्ञान के कारण होते हैं और अज्ञान वा मोह असत् है, अत: अतिमान आदि भी असत् हैं। इनकी उत्पत्ति सत्त्वादि गुणों से होती है, सत्त्वादि गुण प्रकृति रूप हैं और प्रकृति क्षर रूप है, जो जड़ तथा अचेतन है। क्षर-प्रकृति परमात्मा का व्यक्त रूप है। उसका अव्यक्त, अचिंत्य एवं अविकार्य जीव रूप चेतनात्मक सत्ता है। (२/५) देह और देही क्षराक्षर रूप के प्रतिमान हैं। क्षर परिवर्तनशील और अक्षर अपरिवर्तनशील कूटस्थ उस ब्रह्म के इतर रूप हैं, जिनसे परे वह पुरुषोत्तम भाव में भी स्थित है। प्रकृति के क्षरत्व का अर्थ विनाश अथवा अत्यन्त अभाव नहीं हैं, क्योंकि वह अक्षर के समान ही अनादि है। (१३/१९) यह उस पुरुषोत्तम ब्रह्म की अभिव्यक्ति है।[३१] अत: नित्य और सत् है। उस परमात्मा की क्षर प्रकृति अपरा और अक्षर प्रकृति परा अवस्थाएँ, गति एवं सक्रिय तथा निष्क्रिय क्रियापरता की स्थितियाँ हैं। वह एक साथ द्रष्टा और दृश्य की दुहरी भूमिकाओं का निर्वाह करता है तथा इनसे परे एवं अलिप्त भी रहता है। अक्षर-रूप जीव क्षर-रूप भौतिक प्रकृति के संसर्ग से जब अपने को क्षर-रूप ही मानने लगता है, तब वह मोह में आसक्त होता है, उसके ज्ञान पर अज्ञान का आवरण चढ़ जाता है, जिसके फलस्वरूप वह अपने आपको कर्ता-भोक्ता मान लेता है; आसक्ति, परिग्रह, राग-द्वेष और कामनाओं में लिप्त हो जाता है। किन्तु जब उसे क्षराक्षर तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है, तब उसके हृदय में ज्ञान-सूर्य से परम अव्यय पद भासित हो उठता है। (५/१६) फिर उसे मान आदि विकार नहीं होते।

ज्ञान की साधना के साथ अनासक्ति, नि:संगता, संन्यास, त्याग एवं निर्ममत्व आवश्यक है। वैराग्य की धारणा के बिना देहाभिमान नहीं छूटता, परन्तु इसका आशय कर्मों का त्याग, उनसे पलायन एवं उन्हें बन्धनकारी समझना उचित नहीं है। यज्ञार्थ किया गया कर्म बन्धनकारक नहीं है, इसीलिये भगवान ने कहा कि आसक्ति के बिना कर्म करो – **मुक्तसंगः समाचर**। (३/९) अनासक्ति, निर्ममत्व, संन्यास या वैराग्य के शस्त्र से ही मान, मोह एवं अहंकार के कल्पित वृक्ष का उन्मूलन होता है। ज्ञान की उक्त साधना में आत्मसंयम की उपेक्षा नहीं की जा सकती। व्यक्ति के जीवन का हर क्षेत्र इसकी माँग करता है। इसके बिना प्रगति की मंजिल तक पहुँचना असम्भव है। आत्मसंयम से ही आसक्तिहीन वैराग्यमय जीवन जीया जा सकता है और वायु के समान चंचल मन को निगृहीत कर अहंकारादि दुष्ट वृत्तियों से उसकी परिशुद्धि होती है। परिशुद्ध मन से सम्पूर्ण कर्म एवं कर्मफल प्रभु को समर्पित कर लोकसंग्रह के निमित्त किया गया कर्म कर्मयोग है। अत: कर्मयोगी कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अहंकार से मुक्त होता है। वह भगवान को अपना अनन्य शरण्य मानता है और **त्वमेव शरणं मम** की भावना के साथ प्रपत्ति में पहुँचकर भगवान का प्रिय भक्त बन जाता है। भक्त कर्मत्याग, निष्क्रिय वैराग्य एवं कर्म से उदासीनता धारण नहीं करता; अपितु वह सक्रिय आत्म-समर्पण कर ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। तब उसमें किसी प्रकार के मान आदि की आकांक्षा नहीं रहती।

जब आसक्ति-अनुरक्ति का केन्द्र सीमित 'स्व' होता है, तब अहंकार आदि वृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं। जब हमारी अनुरक्ति का प्रवाह विश्वातीत ब्रह्म की ओर होने लगता है, तब उसे भक्ति का रूप मिल जाता है और जब वही अनुरक्ति विश्वोन्मुखी होती है, विराट् स्व को केन्द्र मानती है, तब वह भगवान बुद्ध, महावीर स्वामी और प्रभु ईसा की करुणा का रूप धारण कर लेती है। जिसका किसी भी प्राणी के प्रति वैर नहीं है, जिसका सबके प्रति मित्र भाव है, समता का व्यवहार है, करुणा और दया की भावना है, वह तो विशाल प्रेम के महासागर में डूबा है। उसके लिये संसार के समस्त जीव प्रेम की प्रतिमूर्ति हैं। उन सभी के प्रति वह विनीत और समर्पित है। उसका अहं फिर कहाँ है। वह तो मन के पिंजड़े से मोम के सिंह के समान गलकर निकल जाता है। मनुष्य अहंकार-विहीन हो जाता है, फिर वह मान नहीं चाहता, गर्व नहीं करता। वह तो कबीर की भाषा में बोलता है –

कबीर कहा गरबियो, काल गहै करि केस।
ना जाणौं कहं मारिसी, कै घर कै परदेश।।

मान-अहंकार की जो आसुरी वृत्तियाँ हैं, जिनसे अन्धकाराच्छन्न द्वारों से मनुष्य को नरक में जाना पड़ता है, उनसे मुक्त होकर आत्म-कल्याण हेतु दैवी वृत्तियों का आचरण करता है, वह परमगति – परम कल्याण को प्राप्त करता हैं –

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।। १६/२७

❖ **(समाप्त)** ❖

२८. महा. उद्योगपर्व ३७/१०-११
२९. वही, अनुशासन पर्व, १०८/५ ३०. वही, १९/२७-२८
३१. भगवद्गीता – एक नया अध्याय, भगीरथ दीक्षित, दिल्ली
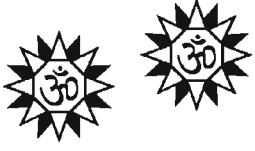
पातञ्जल-योगसूत्र-व्याख्या (६)
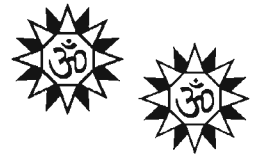
स्वामी प्रेमेशानन्द

(माँ श्री सारदा देवी के वरिष्ठ शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी ने १९६२ ई. के फरवरी माह में अपनी अस्वस्थता के दौरान वाराणसी में अपने सेवक को पातञ्जल योगसूत्र पढ़ाया था। इनके पाठों को सेवक एक नोटबुक में लिख लेते थे। बाद में सेवक – स्वामी सुहितानन्द जी ने उन पाठों को सुसम्पादित कर एक बँगला ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ पातञ्जल योग जैसे गूढ़ विषय पर इस सहज-सरल व्याख्या का हिन्दी अनुवाद रायपुर आश्रम के स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है। – सं.)

अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः ।।३।।

– अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश (आसक्ति) – ये पाँच क्लेश हैं।

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ।।४ ।।

– अविद्या अन्य क्लेशों की उत्पत्ति का कारण है। ये क्लेश कभी सुप्तावस्था में, कभी सूक्ष्मावस्था में, कभी दूसरी वृत्ति द्वारा अभिभूत, वशीभूत और कभी प्रकाशित रहते हैं।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्य-शुचि-सुखात्मख्यातिरविद्या ।।५ ।।

– अनित्य में नित्य का, अपवित्रता में पवित्रता का, दुख में सुख का और अनात्मा में आत्मा का, जो भ्रम होता है, उसे अविद्या कहते हैं।

दृग्दर्शन शक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता ।।६ ।।

– द्रष्टा और दर्शन-शक्ति की एकात्मता (ऐक्य बोध) को अस्मिता कहते हैं।

सुखानुशयी रागः ।।७ ।।

– वह मनोवृत्ति जो केवल सुखकर वस्तुओं में ही रहना चाहती हो, मात्र सुखप्रद वस्तुओं की ही अभिलाषा करती हो, उसे राग कहते हैं।

दुखानुशयी द्वेषः ।।८ ।।

– जो मनोवृत्ति दुःखकर पदार्थों में स्थित रहती है, उसे द्वेष कहते हैं।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ।।९ ।।

– जो वृत्ति पूर्वजन्म के मृत्युभय से उत्पन्न हो एवं जो विद्वान और मूर्ख दोनों में ही विद्यमान हो, उसे अभिनिवेश कहते हैं।

व्याख्या – जगत्-कारण ब्रह्म ने क्रीड़ा के बहाने से विद्यामाया के द्वारा, उसका कुछ अंश आवृतकर, उसी अंश को अनेकों खण्डों में विभक्त कर रखा है। योगी लोग उसी विद्यामाया के आवरण से आवृत अवस्था को प्राप्त कर, जीवनमुक्ति के सुख का आनन्द ले सकते हैं। किन्तु योगशास्त्र का एक मात्र उद्देश्य कैवल्य-प्राप्ति है। उस अवस्था को प्राप्त करने के लिये ही योग-साधना एक साधना-पद्धति के रूप में निर्देशित की गयी है।

कभी कोई सिद्ध योगी इस अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। दूसरे सभी प्राणी ब्रह्म के द्वितीय आवरण अविद्या-माया से आवृत हैं। आत्मस्वरूप को भूलकर जीव यह बोध करता है कि वह जड़सत्ता है। इस जड़ सत्ता को ही 'बुद्धि' कहते हैं। इस 'बुद्धि' से ही मनुष्य का मन-प्राण और देह प्रपंच में पड़ता है। अपने को भूलकर जीव 'बुद्धि' को ही 'मैं' समझता है। इसके कारण इस सुख-दुखमय जीवन को धारण कर उसे इस सृष्टि के रंगमंच पर अभिनय करना पड़ता है। बुद्धि के अनुभव के कारण कितनी चीजें अच्छी और कितनी बुरी लगती हैं तथा इसी संघर्षमय जीवन को 'मैं' समझकर इसे बचाकर रखने के लिये मनुष्य उत्साह के साथ कितना अधिक पुरुषार्थ कर रहा है, इसे संसार में सर्वत्र ही देखा जा रहा है। एक साधारण-सी पेन्सील खो जाने के भय से हमलोग कितनी सावधानी बरतते हैं। किन्तु जिसे हम अपनी सत्ता, अपना अस्तित्व समझते हैं, उस शरीर और मन की क्षति को सहन करना, तो हम लोगों के लिये असम्भव है।

ते प्रति प्रसवहेयाः सूक्ष्माः ।।१० ।।

सूक्ष्म संस्कारों को उनके कारण में परिणत कर, उनमें लीन कर उनका नाश करना चाहिये।

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ।।११ ।।

ध्यान के द्वारा उन क्लेशों की स्थूल वृत्तियों की अवस्था का नाश किया जा सकता है।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट-जन्मवेदनीयः ।।१२ ।।

पूर्वोक्त क्लेश (संस्कार) कर्म के आशय या आधार हैं। ये वर्तमान या परवर्ती जीवन में फल उत्पन्न करते हैं।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।।१३ ।।

मन में इन संस्कारों के मूल के रहने के कारण, वे मनुष्य आदि की जाति, आयु एवं सुख-दुख के भोग के कारण होते हैं।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ।।१४ ।।

पुण्य और पाप संस्कारों के कारण होने से उनका (जाति, आयु तथा भोग का) परिणाम सुख और दुःख होता है।

व्याख्या – इस विपत्ति के हाथों से मुक्ति प्राप्त करने का उपाय स्व-स्वरूप विस्मरण को दूरकर स्व-स्वरूप का स्मरण

करना है। उसके लिये स्व-स्वरूप का चिन्तन करते-करते मन की विषयाकार वृत्ति को बन्द करना होगा। इस प्रकार निरुद्ध चित्त को उसके कारण अविद्या में एवं अविद्या को उसके कारण स्व-स्वरूप में लीन करना होता है। हमारा कार्य समाप्त होने पर, वह सूक्ष्म संस्कार के रूप में चित्त में संचित रहता है। उन्हीं सब कर्मों की प्रेरणा से मनुष्य को बार-बार जन्म लेना पड़ता है और प्रत्येक जन्म में पूर्व कर्मों के फल को भोगना पड़ता है। किसी अच्छे कार्य (सत्कर्म) करने से जैसे पुण्य होता है, वैसे ही कर्मसिद्धि के साधन के अनुसार पाप भी होने की सम्भावना है। इसके कारण मनुष्य के जीवन में जैसे सुख है, वैसे ही उसके साथ-साथ दुख भी है। इसीलिये विवेकी पुरुष की दृष्टि में यह जगत् दु:खमय बोध होता है। जड़ वस्तु का यह स्वभाव है कि वह निरन्तर परिवर्तनशील, परिवर्धित, और क्षय आदि अनेकों परिणामों से संयुक्त होती है। हमलोग स्वस्वरूप को भूलकर जड़ (बुद्धि) को ही 'मैं' अपना स्वरूप समझते हैं। इसीलिये हमलोग लाखों-लाखों जन्म लेकर इस भ्रान्त 'मैं' को ठीक रखने के लिये अनवरत व्यस्त रहते हैं। एक कार्य समाप्त होते ही दूसरा कार्य करने की वह प्रेरणा देता रहता है। उससे हमलोग कभी अपना उपकार करने वाला कर्म करते हैं और कभी बाध्य होकर अपना अनिष्ट करने वाला कर्म करते हैं। – ''**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता:** (गीता-१८/४८) – जैसे धूएँ में अग्नि रहती है, वैसे ही सभी कर्म दोषमय होते हैं। हमलोग इसी कर्म की प्रेरणा से, सुख-दुख के चढ़ाव-उतार से गुजरते हुये, सुख-दुख का भोग करते-करते, एक शरीर के नाश हो जाने पर दूसरे शरीर का निर्माण करते हैं, इसी प्रकार हमलोग अनन्त काल से कर्मभोग करके जीवन यापन कर रहे हैं।

परिणामताप-संस्कार दुखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च
दु:खमेव सर्वं विवेकिन: ।।१५ ।।

परिणाम काल में, भोग के समय में भोग में विघ्न-बाधा की आशंका से सुखकर नयी तृष्णा उत्पन्न होने के कारण तथा गुणवृत्तियों के परस्पर विरोधी होने के कारण, ये सभी विवेकी व्यक्तियों के लिये दुखदायी प्रतीत होती हैं।

व्याख्या – इस अवस्था में यदि किसी व्यक्ति में विचार-बुद्धि का उदय होता है, तो उस व्यक्ति को जीवन में सब कुछ दुखमय प्रतीत होता है।

परिणाम दु:ख – संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो सर्वदा अनेकों रूपों में परिर्वतनशील न हो, अर्थात् सभी वस्तुयें हमेशा बदल रही हैं। अपना शरीर ही शैशव से लेकर वृद्धावस्था तक कितनी अवस्थाओं से गुजरता है। मानव-मन की ऐसी विचित्र स्थिति है कि एक कुलीन ब्राह्मण का लड़का 'काला पहाड़' मुसलमान होकर हिन्दू-धर्म को विनाश करने का प्रयास किया था। संसार में पिता-पुत्र के बीच कलह-विवाद का मरणात्मक, हिंसात्मक परिणाम देखा जाता है। स्वजन बन्धु-बान्धवों में किसके सम्बन्ध का परिणाम किस रूप में सामने उपस्थित होगा, वह सोचने से व्यक्ति भयभीत हो जाता है। संसार की सभी वस्तुओं की ''**जायते अस्ति वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते नश्यति**'' (जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, क्षय और नाश), यह षड्विकृति सुनिश्चित है। भूकम्प में बड़े-बड़े धनी लोग अपने ही भवन के नीचे दबकर मर जाते हैं। धन-संग्रह करने पर लोहा के सन्दूक में रखने पर भी डकैत आकर धन के स्वामी का गला काटकर धन लेकर चला जाता है। जिसकी आँखें हैं, वह देखता है कि इस प्राकृतिक परिणाम, परिर्वतन के राज्य में कोई भी वस्तु व्यक्ति को शान्ति से सकुशल रहने नहीं देती।

ताप-दु:ख – हमारे अपने ही शरीर में व्याधि, वृद्धावस्था मरण-दु:ख स्थायी रूप से निवास करते हैं। मन में कितनी प्रकार की दुश्चिन्ता, दुर्भावनायें दिन-रात मनुष्य को कष्ट दे रही हैं। हमलोग तो दिन भर शरीर और मन की दु:खनिवृत्ति हेतु खटते रहते हैं, कठोर श्रम करते हैं। किन्तु शरीर के रहते आध्यात्मिक दु:ख कभी दूर नहीं होता है। फिर हमलोग कहीं भी क्यों न जायँ, मच्छर-मक्खी, चोर-डकैत, निन्दक, भिन्न-मतावलम्बी और हिंसक पशुओं से भयभीत रहना पड़ता है। अन्य प्राणियों से आत्मरक्षा हेतु मनुष्य बन्दूक, कमान (धनुष) आदि कितने अस्त्रों को बनाया है, तब भी यह आधि-भौतिक दुख दूर नहीं हुआ। क्या यह दारुण दु:ख-संताप का विषय नहीं है? फिर वर्ष भर जाड़ा, गर्मी, बरसात का उपद्रव, कितना सहन करना पड़ता है! अतिवृष्टि, अनावृष्टि, तूफान, भूकम्प, वज्रपात, उल्कापात आदि प्राकृतिक प्रकोप मानव-जीवन के सभी दुखों को मानो चिरसंगी बनाकर रखा है। यह आधि-दैविक ताप, दु:ख है। हमलोग कामनाओं से इतने मोहग्रस्त और अन्धे हो चुके हैं कि हम भंयकर त्रिताप से जलकर मर रहे हैं, फिर भी इस तृष्णा-कामना के छल को देखकर भी नहीं देख रहे हैं, इसे अनदेखा कर दे रहे हैं। किन्तु विवेक-बुद्धि के थोड़े जागने पर इस संसार में रहना, इस मानव-शरीर को धारण करना, घोर कष्ट जैसा प्रतीत होता है।

संस्कार दु:ख – ''न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत'' (गीता-३/५/५) – कोई प्राणी कर्म न करके एक क्षण भी निष्क्रिय होकर नहीं रह सकता है। थोड़ा-सा हिलने डुलने से ही पुन: संस्कार रूप में वह चित्त में संचित हो जाता है। हमारे सभी कर्मों की तुलना 'व्युमेरां' अस्त्र से की गई है। पूर्वकृत कर्मों की प्रेरणा से जब हमलोग उन्हीं कर्मों की पुनरावृत्ति करते हैं, तब वह तत्क्षण वापस आकर हमारे चित्त में संस्कार रूप में परिणत हो जाता है।

किसी अनादिकाल में हमलोगों के सूक्ष्म शरीर में किसी अज्ञात कारण से कुछ करने की प्रवृत्ति जागृत हुई थी। वही आदिकर्म घुम-घुमकर कभी कर्म, कभी संस्कार रूप में परिणत होते-होते हमलोगों को कितने करोड़ों वर्षों से इस संसार-पथ में चक्रवत् निरन्तर घुमा रहा है। अनन्तकाल के अभ्यासवशात् इस घोर दुःखमय चक्र को हमलोग 'जीवन' समझते हैं और इसी जीवन की रक्षा के लिये कितना ही घोर व्यर्थ प्रयास करते रहते हैं, उधर दृष्टि पड़ने पर वह मनुष्य को पागल कर देता है। अभी हमलोग एक ऐसी अवस्था में पहुँच गये हैं कि इस कर्मचक्र से मुक्त होने का कोई मार्ग दृष्टिगोचर नहीं होता। हमलोग किस उद्देश्य से इस जीवन-युद्ध को चलाये जा रहे हैं, उसे कुछ भी समझ नहीं पाते। मानो एकमात्र आशा-ही हमारे जीवन का संचालक है।

विवेक-बुद्धि जाग्रत होने पर जो हमलोग किये हैं या कर रहे हैं, उसमें से कुछ भी हमारे लिये उपकारी प्रतीत नहीं होता। इससे भयभीत होकर शास्त्रज्ञानहीन बहुत से विवेकी व्यक्ति भी शून्यवादी होकर आत्महत्या का व्यर्थ प्रयास कर जीवन-नाश किये हैं।

गुणवृत्ति विरोध दुःख – इस संसार की सभी वस्तुयें तीन-गुणों से निर्मित हैं और ये तीनों गुण परस्पर विरुद्ध स्वभाव के हैं। सत्त्वगुणी कहते हैं –

इस नील आकाश के अनुपम सौन्दर्य को अच्छी तरह से देखो। वैसे ही रजोगुणी कहते हैं – चलो देखें कि हमलोगों में से इस नील-आकाश के नीचे कौन, कितना तेजी से दौड़ सकता है। तमोगुणी कहते हैं – इतना दौड़-धूप करने से क्या लाभ है? चलो हमलोग परम शान्ति से घास की शय्या पर सोकर आनन्द प्राप्त करें। ब्रह्मा कहते हैं – नयी-नयी वस्तुओं की सृष्टि करो। विष्णु कहते हैं – इतना सब बढ़ाने से क्या लाभ है? जितना है उसी का संरक्षण करो। शिव कहते हैं – इन हंगामों, झमेलों की क्या आवश्यकता है? इस संसार का संहार कर दो। यह सारा संसार इन तीन गुणों का ही खेल है।

हम सभी लोग अपने जीवन में भी इन गुणों की प्रेरणा से ही दौड़-धूप कर रहे हैं। जब हम सुषुप्ति (निद्रा) से जगते हैं, तब देह-मन में स्फूर्ति का अनुभव करते हैं। तब विद्यार्थी पढ़ने बैठता है, भक्त भगवान का ध्यान करता है, भोगी-विलासी बाग-बगीचे में घुमकर सौन्दर्य का आनन्द लेता है। थोड़ी देर बाद मन के अन्तस्तल से रजोगुण जाग्रत होकर, कर्त्तव्य कर्म करने की प्रेरणा देता है। तब सभी लोग कार्य करने के लिये उन्मत्त, मतवाले हो जाते हैं। हम कार्य करते-करते थककर रात में सो जाते हैं। अनादिकाल से हम लोग इन्हीं तीनों गुणों के गुलाम होकर, दास होकर जीवन बीता रहे हैं। जो लोग समझ नहीं पाते हैं, वे लोग इस जीवन को उन इन्द्रियों के गुलाम जानकर बड़े गर्व का अनुभव करते हैं। किन्तु जिनके पास विवेक-चक्षु है, वे स्पष्ट देखते हैं, बोध करते हैं कि उनके जीवन के चिन्तन, विचार, कर्म सबमें वे इन तीन गुणों के क्रीतदास मात्र हैं – **त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् मोहितम्** (गीता/७/१३) अर्थात् इन तीनों गुणों से ही सारा संसार मोहित हो रहा है। केवल हमारे व्यक्तिगत जीवन में ही इन तीनों गुणों का घात-प्रतिघात चल रहा है, ऐसा नहीं है, इन तीनों गुणों के वैचित्र्य के कारण हमारे सहवासियों के दैनन्दिन व्यवहार में कितना संघर्ष होता है, उसे भुक्तभोगी के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं समझ सकता है। यहाँ तक कि जिन वस्तुओं को लेकर हम संसार में रहते हैं, उनमें भी इन तीनों गुणों का वैचित्र्य एवं घात-प्रतिघात का अनुभव होता है। तीनों गुणों से युक्त लोगों का भोजन तीन प्रकार का, पोशाक तीन प्रकार का होता है, यहाँ तक कि उनकी वाणी भी तीन प्रकार की होती है। इन विभिन्न रुचियों और विभिन्न कर्मों के बीच अपने को सम्भालकर चलना, कितना कठिन है, इसे हमलोग निरन्तर देख रहे हैं। इन गुण वृत्तियों के विरोध के कारण ही आज समाज और देश विचित्रमय हो गया है।

इसलिये देखा जाता है कि हमलोग स्वेच्छा से सात्विक, राजसिक और तामसिक किसी प्रकार के कर्म में दृढ़ नहीं हो सकते। मुमुक्षु साधक सदा भगवत्-चिन्तन, भगवान के ध्यान में मग्न रहना चाहते हैं, क्योंकि अनेकों जन्मों के अनुभव से उन्हें यह बोध हुआ है कि ईश्वर-चिन्तन ही शान्ति-प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है। किन्तु उनके द्वारा कुछ देर भगवत्-चिन्तन, भगवान के ध्यान में निमग्न रहने पर ही उनका शरीर-मन उसे सहन नहीं कर सकता। मुमुक्षु साधक को बहुत जन्मों तक रजोगुण और तमोगुण से संघर्ष करना पड़ता है। उच्च भूमि या चक्रों पर साधना करने वाले साधकों को भी इस जीवन में मन को पूर्णरूप से समाहित, नियन्त्रित करने के लिये कठोर प्रयास करना पड़ता है। तोतापुरी जी जैसे महापुरुष को भी चालीस वर्षों तक लगातार यह युद्ध करना पड़ा है। हमलोग का तो प्रतिदिन ही रजोगुण और तमोगुण के अत्याचार के साथ सामना होता है।

❖ (क्रमशः) ❖

रामकृष्ण मिशन आश्रम, श्रीनगर (कश्मीर) : एक संक्षिप्त इतिहास

वर्ष १९५५-५७ में श्रीरामकृष्ण भावधारा के कश्मीरी भक्तों के प्रयास के फलस्वरूप श्रीनगर में 'रामकृष्ण-विवेकानन्द सेवा-सदन' की स्थापना हुई।

श्री आई. के. कौल तथा उनका परिवार, श्री एस. एन. भान, प्रोफेसर सी. एल. सप्रू, श्री एम. एन. सप्रू, श्री टी. एन. सप्रू एवं कश्मीरी पण्डित समाज के अन्य छोटे-बड़े सदस्य इस सदन की नींव थे। विद्वान् एवं समाज-सेवी पण्डित गोपीकृष्ण जी के नेतृत्व में कार्यशील कश्मीरी पण्डित की सामाजिक-धार्मिक संस्था, समाज सुधार समिति का मुख्यालय शिवालय, छोटा बाजार, करणनगर, श्रीनगर में था। समाज-सुधार समिति ने शिवालय में सेवासदन को रामकृष्ण आश्रम आरम्भ करने हेतु भूमि प्रदान करके अपना सहयोग दिया।

श्री आई. के. कौल एवं उनके सहयोगियों ने श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा एवं स्वामी विवेकानन्द को समर्पित एक मन्दिर का निर्माण किया। तीनों के संगमर्मर निर्मित विग्रहों की स्थापना की गई एवं केरल के एक साधु स्वामी रामानन्द को आश्रम का प्रभारी नियुक्त किया गया। पूजा के अतिरिक्त भक्तों हेतु रामकृष्ण संघ की कुछ किताबें भी उपलब्ध करायी गयीं।

श्रीमत् रामानन्द जी ने अपने समर्पण तथा प्रेमपूर्ण सेवा के द्वारा आश्रम में एक आध्यात्मिक परिवेश का सृजन किया और इसके फलस्वरूप आश्रम के दैनन्दिन सेवाकार्यों में सहयोगी एक युवा कार्यकर्ताओं का समूह निर्मित हुआ। एक प्रख्यात कश्मीरी कवि एवं शिक्षाविद् श्री जिन्दल कौल तथा अन्य भक्त प्रति रविवार एकत्र होते एवं श्रीरामकृष्ण-वचनामृत और अन्य धर्मग्रन्थों का पाठ तथा उस पर चर्चा करते थे। यह गतिविधि १९६० ई. के मध्य तक चलती रही।

१९६३ ई. में आश्रम में स्वामी विवेकानन्द की जन्म-शताब्दी मनायी गयी, जिसमें रामकृष्ण मिशन, मुम्बई के स्वामी सम्बुद्धानन्द तथा स्वामी स्मरणानन्दजी शामिल हुये। १९६४-६५ में रामकृष्ण मिशन के महाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्द जी, बेलुड़ मठ के व्यवस्थापक भरत महाराज और स्वामी रंगनाथानन्द जी ने आश्रम का परिदर्शन किया।

१९७१ ई. में 'रामकृष्ण-विवेकानन्द सेवासदन' को श्री रामकृष्ण आश्रम में रूपान्तरण करके उसका जम्मू-कश्मीर के समिति-पंजीयन नियमों के अधीन पंजीकृत कराया गया।

हमारे संघ के अनेक साधुओं ने इस आश्रम का परिदर्शन तथा इसमें निवास किया, जिनमें प्रमुख थे – स्वामी मुख्यानन्द जी, स्वामी शास्त्रानन्द जी, स्वामी तीर्थानन्द जी, स्वामी प्रभानन्द जी, रथिन महाराज और स्वामी शिवमयानन्द जी।

१९७४-७५ ई. में रामानन्द जी की सड़क दुर्घटना में मृत्यु हो जाने के बाद केरल के ही एक अन्य साधु शंकरानन्द जी २००० ई. तक आश्रम के व्यवस्थापक रहे।

१९७४-७५ में श्रीमत् स्वामी गौरीशानन्द जी आश्रम में पधारे और श्रीमाँ सारदा तथा श्रीरामकृष्ण के अन्य पार्षदों के अपने संस्मरणों से भक्तों को परितृप्त किया।

१९७५ ई. में श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्दजी ने आश्रम में निवास किया और विश्वविद्यालय तथा अन्य महाविद्यालयों के विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुये पूरी घाटी में व्याख्यानों का एक तूफानी दौरा किया। वे अनेक आश्रमों एवं संस्थाओं में गये। आश्रम में कठोपनिषद् पर होनेवाली उनकी कक्षाओं ने सैकड़ों भक्तों को आकर्षित किया। श्रीरामकृष्ण देव के सन्देशों पर हुई इस बड़ी स्वाभाविक प्रतिक्रिया को देखते हुये समाज-सुधार-समिति के अधिकारियों ने आश्रम को पुन: अधिक स्थान देकर सहयोगी बनाया और कांक्रीट का एक नया दुमंजिला ढाँचा खड़ा कर दिया। श्रीरामकृष्ण मन्दिर, ग्रंथालय सह वाचनालय, सत्संग भवन, चिकित्सा-प्रयोगशाला तथा औषधालय भी आश्रम में सम्मिलित किये गये और अब से सेवाकार्य व्यवस्थित ढंग से सम्पन्न किये जाने लगे।

१९७७-७८ ई. में हमें रामकृष्ण मठ, बेलूड़ के उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द जी के सान्निध्य का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने श्री अमरनाथ जी के दर्शन किये और आश्रम में अनेक व्याख्यान दिये तथा अनेक भक्तों को साधना में दीक्षित किया। आश्रम से सम्बद्ध विश्वविद्यालय के दो छात्र रामकृष्ण संघ में सम्मिलित हुये। उनमें से एक श्री अरविन्द महाराज (अब स्वामी बोधसारानन्द) अद्वैत आश्रम के अध्यक्ष तथा रामकृष्ण मठ एवं मिशन के ट्रस्टी हैं। एक विद्वान् साधक पण्डित जानकी नाथ कौल 'कमल' ने विविध शास्त्रों तथा कश्मीरी शैव दर्शन पर आश्रम में कक्षायें आयोजित कीं और संस्कृत शैव-शक्ति साहित्य का अंग्रेजी एवं हिन्दी में अनुवाद किया, जिन्हें बाद में आश्रम द्वारा प्रकाशित किया गया।

१९८३ ई. में श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द जी ने नये मन्दिर

एवं सेवाभावी कार्यों का कश्मीर की जनता के प्रति लोकार्पण किया। १९८५ में श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्दजी ने पुन: घाटी का प्रवास किया तथा अपने व्याख्यान से हजारों श्रोताओं को अभिभूत कर दिया। जुलाई १९८९ ई. में श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द जी, स्वामी आत्मानन्द जी के साथ पधारे और आश्रम में प्रवास किया। घाटी में आरम्भ हुए आतंकवादी उत्पातों के बावजूद यह दौरा अत्यधिक सफल रहा।

१९९०-२००० के वर्षों में आतंक एवं विनाश-लीला के मध्य घाटी ने वहाँ से हिन्दुओं के महा-निष्क्रमण को देखा। आश्रम गतिमान रहा, मन्दिर की पूजा-सेवा के अतिरिक्त बाकी सभी सेवा-कार्य बन्द कर दिये गये।

१९९९-२००० में न्यायमूर्ति जे. एन. भट्ट की अध्यक्षता में 'समाज-सुधार समिति ट्रस्ट' ने एक स्थानान्तरण प्रस्ताव पारित करके मात्र पाँच लाख रुपये मूल्य पर समूचे शिवालय कॉम्पलेक्स को श्रीरामकृष्ण आश्रम, शिवालय, श्रीनगर के नाम पर हस्तान्तरित कर दिया। इस समूची प्रक्रिया ने हमारे वैधानिक सत्त्वाधिकार को मजबूती दी तथा बेलूड़ मठ के अधिकारियों से श्रीनगर आश्रम को संघ में अधिकृत करने के हमारे अनुरोध को बल प्रदान किया।

२००७ ई. में बेलूड़ मठ ने श्रीनगर आश्रम को अधिगृहीत करने का महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया और २५ मार्च, २००८ ई. को रामकृष्ण मठ एवं मिशन ने 'रामकृष्ण आश्रम, शिवालय, श्रीनगर, कश्मीर' को १६६ वें अधिकृत शाखा-केन्द्र के रूप में अधिगृहीत कर लिया। यह आश्रम के इतिहास में एक यादगार दिन था, जब श्रीमत् स्वामी विवेकानन्द की कश्मीर में एक आश्रम बनाने की इच्छा पूरी हुई। इस सम्बन्ध में जम्मू-कश्मीर में लागू कानून के तहत सब-रजिस्ट्रार श्रीनगर के न्यायालय में एक लीज-डीड लिखकर पंजीकृत हुई, जिस पर रामकृष्ण मिशन बेलूड़ मठ, हावड़ा के ट्रस्टी तथा सह-सचिव श्रीमत् स्वामी सुवीरानन्द और श्रीरामकृष्ण आश्रम श्रीनगर के सचिव श्री बी. एन. कौल ने अपनी-अपनी संस्थाओं की ओर से हस्ताक्षर किये। इस अवसर पर अद्वैत आश्रम, मायावती के अध्यक्ष एवं रामकृष्ण मठ तथा मिशन के ट्रस्टी स्वामी बोधसारानन्द, रामकृष्ण मिशन, जम्मू के सचिव स्वामी गिरिजेशानन्द और श्रीनगर आश्रम के भक्तगण उपस्थित थे।

इस ऐतिहासिक घटना के उपलक्ष्य में २६ मार्च २००८ ई. को आश्रम के सत्संग-भवन में एक सार्वजनिक कार्यक्रम का आयोजन किया गया था, जिसमें जनता काफी संख्या में उपस्थित रही। श्रीमत् स्वामी सुवीरानन्द जी मुख्य अतिथि थे। कार्यक्रम की अध्यक्षता जम्मू-कश्मीर के एडीशनल अटार्नी जनरल जनाब रियाज अहमद ने की।

इस अवसर पर श्रीरामकृष्ण आश्रम, श्रीनगर के सचिव द्वारा स्वामी सुबीरानन्द जी को आश्रम के चल तथा अचल सम्पत्ति विषयक दस्तावेजों की मूल प्रति सौंपी गई।

सभा का आरम्भ स्वामी गिरिजेशानन्द जी द्वारा प्रस्तुत किये गये वेदपाठ तथा मधुर भजनों से हुआ। स्वामी सुवीरानन्द जी ने अपने उद्‌बोधन में आश्रम को बेलूड़ मठ की १६६ वीं अधिकृत शाखा के रूप में स्वीकृत होने पर बधाई दी और इस बात पर प्रकाश डाला कि मुख्यत: श्रीमत् स्वामी विवेकानन्द की कश्मीर में एक शाखा-केन्द्र खोलने की तीव्र इच्छा ने ही बेलूड़ मठ के संचालकों को श्रीनगर आश्रम को अधिगृहीत करने के निर्णय को प्रभावित किया। उन्होंने कहा कि कश्मीर तथा उसके आसपास की वर्तमान परिस्थितियों के बीच श्रीनगर में एक शाखा आरम्भ करना, एक दृढ़ता एवं चुनौतीपूर्ण निर्णय है और यह प्रार्थना जतायी कि मिशन की यह सद्य:स्थापित शाखा जनता की आध्यात्मिक एवं सेवामूलक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अपने प्रयास करती रहेगी।

श्रीरामकृष्ण आश्रम के सचिव ने इस महत्त्वपूर्ण निर्णय के लिये बेलूड़ मठ के संचालकों के प्रति अपनी कृतज्ञता एवं प्रसन्नता ज्ञापित की तथा श्रीनगर शाखा की स्थापना एवं विकास के संक्षिप्त इतिहास का विवरण प्रस्तुत किया।

जनाब रियाज अहमद ने अध्यक्षीय भाषण में इस बात पर खुशी जाहिर की कि यह शाखा कश्मीर घाटी में अब भी प्राचीन व परम्परागत मूल्यों को जीवित रखे हुए है और घाटी में शान्ति एवं अमन की वापसी के लिये प्रार्थना जताई।

आश्रम के वरिष्ठ सदस्य तथा भक्त श्री पारेलाल वाटाल ने धन्यवाद ज्ञापन किया तथा मुख्य अतिथि, कार्यक्रम के अध्यक्ष एवं उपस्थित समस्त जनता के प्रति आश्रम की ओर से आभार व्यक्त किया। इस अवसर पर उन्होंने आश्रम के भूतपूर्व तथा वर्तमान समर्पित कार्यकर्ताओं के नाम का भी उल्लेख किया, जिनके प्रयत्नों से आश्रम अपनी वर्तमान प्रतिष्ठा को प्राप्त कर सका।

अन्त में जवाहर जी ने अपनी सुरीली आवाज में एक मधुर भजन प्रस्तुत करते हुए कार्यक्रम का समापन किया।

'विवेक-ज्योति' में वर्ष २००८ ई. के दौरान प्रकाशित लेखकों तथा उनकी रचनाओं की सूची

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम
विज्ञानानन्द मार्ग, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद - २११ ००३
दूरभाष : (०५३२) २४१३३६९ फैक्स : (०५३२) २४१५२३५
ई-मेल : rkmathald@dataone.in

माघ मेला शिविर – २००९

नम्र निवेदन

प्रिय बन्धु,

पुण्यतोया त्रिवेणी के पवित्र संगम तट पर प्रति वर्ष माघ महीने में एक मास-व्यापी मेले का आयोजन होता है। लाखों की संख्या में साधु और भक्त इस पुण्य क्षेत्र में स्नान तथा कल्पवास के लिये पधारते हैं।

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, प्रयाग (इलाहाबाद) प्रतिवर्ष इस मेले के शुभ अवसर पर साधु-भक्तों की नि:शुल्क सेवा तथा धर्म प्रचार के लिये इस पुण्य क्षेत्र में एक माह के लिये एक सेवा शिविर का आयोजन करता है।

सन् २००९ में शिविर का आयोजन ९ जनवरी से ९ फरवरी तक होगा।

शिविर की मुख्य गतिविधियाँ निम्न हैं :-

१. साधु-भक्तों की नि:शुल्क सेवा के लिये एक औषधालय (एलोपैथी) जिसमें विशेषज्ञ चिकित्सकों की सेवाएँ उपलब्ध होती हैं।
२. पूजागृह सहित सत्संग मंडप (आध्यात्मिक प्रवचन तथा भजन के लिए)
३. सत्संग के लिए बाहर से आने वाले भक्तों के लिए आवासीय व्यवस्था।
४. रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा तथा वेदान्त प्रचार के लिये एक पुस्तक केन्द्र, जिसमें हिन्दी, अँग्रेजी तथा बंगला में पुस्तकें बिक्री के लिये उपलब्ध रहती हैं।
५. भगवान श्रीरामकृष्णदेव एवं स्वामी विवेकानन्द के पूत जीवन संबंधी चित्र प्रदर्शनी।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन सेवा कार्यों में प्रचुर धन व्यय होता है। आपके द्वारा उदारतापूर्वक दिया गया दान सेवा कार्यों के सुचारु संचालन में हमारे लिये अत्यन्त उपयोगी होगा। इस पुण्य कार्य में आपके सहयोग के लिये हम कृतज्ञ रहेंगे।

अपना चेक/ड्राफ्ट रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, इलाहाबाद के नाम पर लिखें।

आप सबके कल्याण की प्रार्थना के साथ,

प्रभु सेवा में आपका
स्वामी त्यागात्मानन्द
सचिव

शिविर में भक्तों के लिये आवासीय व्यवस्था

इस वर्ष माघ मेला शिविर (९ जनवरी से ९ फरवरी) में आने के इच्छुक भक्तों के लिए भोजन और निवास का प्रबन्ध किया गया है। प्रतिदिन प्रतिव्यक्ति का शुल्क १०० रु. होगा। इसमें भाग लेने के इच्छुक भक्तों को कम से कम ३ दिनों का शुल्क ३०० रु. देना होगा। कल्पवास (९ जनवरी से ९ फरवरी) करने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए शुल्क २५०० रु. होगा।

भक्तगण जितने दिनों तक शिविर में रहना चाहते हैं, अपना भोजन और निवास शुल्क अग्रिम रूप से रेखांकित ड्राफ्ट अथवा मनिआर्डर द्वारा 'रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, इलाहाबाद' के नाम पर १५ दिसम्बर २००८ तक अवश्य भेज दें।

विशेष : आवासीय भक्तों को यातायात व्यवस्था की परेशानी से बचने हेतु स्नान के २ दिन पहले आना श्रेयस्कर होगा ।

महत्वपूर्ण स्नान के दिन

पौष पूर्णिमा ११ जनवरी, मकर संक्रान्ति १४ जनवरी, मौनी अमावस्या २६ जनवरी, बसंत पंचमी ३१ जनवरी, माघ पूर्णिमा ९ फरवरी।

*** कृपया अधिक जानकारी के लिये रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, इलाहाबाद से सम्पर्क करें।**

*** रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम को दिया गया दान इन्कम टैक्स १९६१ की धारा ८० जी के अधीन आयकर से मुक्त है।**